दो शब्द

पाठक! आपके कर कमलों में यह तीर्थङ्करचरित्र का द्वितीय भाग है। मैं प्रथम भाग की भूमिका में लिख चुका हूँ, कि तीर्थङ्कर चरित्र लिखने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। भगवान तीर्थङ्कर का सम्पूर्ण जीवनचरित्र लिखने का कार्य, बड़े-बड़े योगियों के लिए भी कठिन है। मैंने तो केवल छात्रों के लिए-पाठ्य पुस्तक-लिखी है, और इसमें भगवान तीर्थङ्कर के चरित्र की प्रधान-प्रधान घटनाओं को संक्षेप में वर्णन करने की चेष्टा भी की है। चरित्र को बहुत संक्षेप में लिखा है, इसलिए यदि पुस्तक रोचक एवं आकर्षक न बनी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। एक-एक तीर्थङ्कर के, पाँच-पाँच और सात-सात सौ पृष्ठ की बड़े साइज की पुस्तक में वर्णित चरित्र को थोड़े में लाना-और इतने थोड़े में कि क्राउन साइज की साढ़े तीनसौ चारसौ पृष्ठ की पुस्तक में चौबीसों तीर्थङ्कर का चरित्र लिख देना—कितना कठिन है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए शाब्दिक सौन्दर्य, रोचकता और आकर्षण पुस्तक में न होना स्वाभाविक है। फिर भी प्रसङ्गोपात यथास्थितिवाद का स्वरूप, पुण्य-पाप के फल

का दिग्दर्शन, संसार की अनित्यता का वर्णन करने के साथ ही सत्य-धर्म के उपदेश का समावेश, पुस्तक में किया ही गया है।

सम्पादन सम्बन्धी त्रुटियाँ रहने के साथ ही, प्रूफ सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ भी रह गई हैं। वैसे तो त्रुटि रहना बुरी बात है, किन्तु कोई अक्षम्य अपराध नहीं है, किन्तु क्षम्य ही है। त्रुटियाँ रहने का एक कारण, सस्ता-साहित्य-प्रेस अजमेर का बन्द होना भी है, जिसमें कि मण्डल का छपाई सम्बन्धी कार्य हुआ करता था। इस दूसरे भाग में रही हुई बड़ी-बड़ी त्रुटियों का शुद्धिपत्र दे दिया गया है। पाठकगण उसके अनुसार पुस्तक में संशोधन कर लेंगे। इन त्रुटियों के सिवा और बड़ी-बड़ी—जैसे प्रमाण से विपरीत होने आदि की—जो त्रुटि दृष्टिगोचर हो, पाठकगण उस त्रुटि से मुझे सूचित करने की कृपा करें, जिसमें आगामी आवृत्ति में, मैं उन त्रुटियों को निकाल सकूँ। किमधिकम्।

रतलाम
मार्गशीर्ष पूर्णिमा १९९०

भवदीय—
बालचन्द श्रीश्रीमाल

शुद्धिपत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	श्लोक की २ री और चौथी	विभाति	विभासि
१०	१४	पंडगवन	पांडुकवन
१४	४	हाथ	हाथी
१४	५	अउत्तर	उतर
१५	श्लोक की १ ली	मुक्ता	मुक्त
,,	,, २ री	मायापते	मायायते
,,	,, २ री	भानौः	भानोः
,,	और ४ थी		
,,	३ री	यस्याभिधान	यस्याभिधानम
३६	३	श्रीविजय	अमिततेज
३६	१४	अमिततेज	श्रीविजय
३९	३	दमतारि से	उससे
५०	१७	मेघरथ	घनरथ
५९	१६	सिंहनीक्रीडति	सिंहनीक्रीड़ित
५९	१९	तैंतीसक्रोड़ सागर	तैंतीस सागर

६१	१२	आठलाख लक्षणों	आठ लक्षणों
७७	श्लोक की २ री	तवाऽऽयम्	तवाऽऽमम्
७८	,, ३ री	त्वं	त्वां
९२	२०	चन्द्रछाप	चन्द्रछाय
९३	१	रुकभी	रुकमी
१०३	१	हरिवंश	सुमित्र
१०६	२	कुंभज	कुम्भ

पृष्ठ ६७ की २ री पंक्ति में, 'छद्मस्थावस्था में' के साथ "और शेष केवली अवस्था में' और पढ़ा जावे।

प्रत्येक चरित्र का 'पूर्वभव' शीर्षक, प्रारम्भिक श्लोक के नीचे होना चाहिए था, परन्तु ऊपर है, उसे श्लोक के नीचे समझा जावे।

विषय-सूची ।

श्री तीर्थङ्कर-चरित्र।

[द्वितीय भाग]

लेखक—

श्री वालचन्द श्रीश्रीमाल

भगवान श्री विमलनाथ ।

पूर्व भव ।
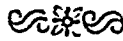
श्लोकः —

सिंहासने गत मुपान्त समेत देव
देवे हितं सकमलं विमलं विभाति ।
आनर्चयो जिनवरं लभते जनौघो
देवे हितं सकमलं विमलं विभाति ॥

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह में, भरतक्षेत्र के अन्तर्गत महापुरी नाम की एक नगरी थी। वहाँ, पद्मसेन नाम का प्रतापी और धर्मपरायण राजा राज्य करता था। समय पाकर, पद्मसेन संसार से विरक्त हो सर्वगुप्त आचार्य के समीप संयम में प्रवजित हो गया। जिस प्रकार, निर्धनपुरुष धन, और निःसन्तान पुरुष पुत्र पाकर उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करता है, उसी प्रकार पद्मसेन ने भी संयम का निरतिचार पालन किया। संयम पालन के साथ ही, अर्हद्भक्ति आदि द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया और अन्त में शरीर त्याग सहस्रार कल्प में अठारह सागरोपम की आयु का देव हुआ।

अंतिम भव।

मध्य जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में, पंजाब देश के अन्तर्गत 'कांपिलपुर' नाम का एक रमणीय नगर था। वहाँ, कर्तृवर्म नामका समृद्ध राजा राज्य करता था। उसके अन्तःपुर में, श्यामा नाम की पटरानी थी, जो स्त्रियोचित समस्त गुणों से सम्पन्न थी।

सहस्रार देवलोक का आयुष्य भोग कर पद्मसेन का जीव, वैशाख शुक्ल १२ की रात को—जब चन्द्र का योग उत्तराभाद्र-

पद नक्षत्र के साथ हुआ—महारानी श्यामा देवी की कुक्षि में आया। सोई हुई महारानी श्यामा देवी, तीर्थङ्कर के जन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखकर जाग उठीं और पति से स्वप्नों का फल सुन, प्रसन्नता सहित गर्भ का पोषण करने लगीं।

गर्भकाल समाप्त होने पर, माघ शुक्ल ३ की मध्य रात्रि को—सब ग्रह नक्षत्र उच्च होने पर—महारानी श्यामा ने, शूकर के चिन्हवाले स्वर्णवर्णी अनुपम पुत्र को जन्म दिया। उस समय तीनों लोक में प्रकाश हुआ।

आसनकम्प एवं अवधिज्ञान के द्वारा, इन्द्रों ने भगवान का जन्म हुआ जाना। वे, देवों सहित सुमेरु गिरि पर पाण्डु वन में—जहाँ पांडुकवल नाम की अर्द्धचन्द्राकार शिला है और उसपर अभिषेक-सिंहासन है—भगवान का जन्मकल्याण मनाने गये। भगवान का जन्मकल्याण मनाकर, भक्तिपूर्वक वन्दन एवं पूजा स्तुति करके, भगवान को माता के पास लाकर रख दिये और भगवान के अँगूठे में, अमृत भर कर, इन्द्र तथा देवता अपने-अपने स्थान को गये।

प्रातःकाल महाराजा कर्तृवर्म ने, पुत्रजन्मोत्सव मनाकर, पुत्र का नाम विमलकुमार रखा। इन्द्र की आज्ञा से, देवांगनाएँ भगवान का लालन पालन करने लगीं। भगवान विमलकुमार, गिरिकन्दरा की लता के समान सुखपूर्वक वृद्धि पाने लगे।

अनुक्रम से बाल-अवस्था समाप्त करके भगवान, युवावस्था में प्रविष्ट हुए। भगवान का साठ धनुष ऊँचा, और एक सहस्र आठ लक्षणों से युक्त सुन्दर शरीर बहुत ही अधिक शोभायमान दिखने लगा। भगवान की स्वीकृति से, माता-पिता ने, भगवान के साथ अनेक राजकन्याओं का विवाह कर दिया। भगवान आनन्द से गृहस्थी के सुख भोगने लगे।

जब भगवान विमलकुमार की आयु पन्द्रह लाख वर्ष की हुई, पिता ने, भगवान को राजपाट सौंप दिया। भगवान कौशल-पूर्वक राज-काज करने और प्रजा को पालने लगे। भगवान ने, तीस लाख वर्ष, सुचारु रूप से राज्य किया।

एक बार भगवान ने, संसार त्यागकर संयम स्वीकार करने का विचार किया। उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से विन्ती, की कि—हे प्रभो, अब समय आगया है, धर्म-तीर्थ प्रवर्ताइये। अपने विचार और देवताओं की प्रार्थना के अनुसार भगवान, राज-पाट से निवृत्त हो, वार्षिक दान देने लगे। वर्ष के अन्त में, भगवान का निष्क्रमणोत्सव सुर-असुर एवं मनुष्यों ने मनाया। भगवान त्रिजगपति शिबिका में, आरूढ़ हो, कम्पिलपुर के मध्य होकर सहस्राम बाग में पधारे। वहाँ, सर्व वस्त्रालंकार त्याग, भगवान ने पंच मुष्टि लोच किया। इन्द्र ने, भगवान के सुकोमल केश, क्षीर-सागर में क्षेपण किये और

जब जन-समूह का कोलाहल शान्त हुआ, तब भगवान विमलनाथ ने, सिद्ध भगवान को नमस्कार करके, छट्ठ के तप में, माघ शुक्ला ४ के दिन, एक हजार राजाओं के साथ संयम स्वीकार किया। संयम स्वीकारते ही, भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ।

चारित्र स्वीकार करके भगवान, कम्पिलपुर से अन्यत्र विहार कर गये। दूसरे दिन धान्यकूट नगर में, जय राजा के यहाँ पवित्रान्न से भगवान का पारणा हुआ।

संयम पालन करते हुए और अनेक अभिग्रह धारण करते हुए, भगवान, निस्पृह होकर जन-पद में विचरने लगे। दो मास तक, भगवान, छद्मस्थ अवस्था में विचरते रहे और फिर कम्पिलपुर के उसी उद्यान में पधारे। वहाँ, भगवान ने जम्बू वृक्ष के नीचे क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हो, क्रमशः मोहकर्म की प्रकृतियों को खपाया और फिर शुक्ल ध्यान में लीन हो, घातिक कर्म नष्ट कर, केवल ज्ञान प्राप्त किया।

भगवान विमलनाथ को केवल ज्ञान हुआ है, यह जान इन्द्र और देवता, सपरिवार, केवलज्ञान महोत्सव करने के लिए उपस्थित हुए। उन्होंने, केवलज्ञान महोत्सव किया। समवशरण की रचना हुई। द्वादश प्रकार की परिषद एकत्रित हुई। भगवान ने दिव्य वाणी का प्रकाश किया, जिससे अनेक जीव बोध पाये।

वहाँ से भगवान, जनपद में विहार कर गये।

भगवान विमलनाथ, विचरते-विचरते द्वारका नगरी पधारे। वहाँ, भरत क्षेत्र के तीसरे वासुदेव स्वयम्भू और बलदेव भद्र अर्द्धचक्री की ऋद्धि युक्त राज्य करते थे। उद्यान-रक्षक ने, स्वयम्भू वासुदेव को भगवान के पधारने की बधाई दी। स्वयम्भू वासुदेव, सर्व ऋद्धि सहित, भगवान को वन्दना करने पधारे। भगवान की वन्दना-स्तुति करके, स्वयम्भू वासुदेव ने, भगवान का उपदेशामृत श्रवण किया।

भगवान दो मास कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचरे। भगवान के मन्दिर आदि सत्तावन गणधर थे। अरसठ सहस्र मुनि थे। एक लाख छः सौ आर्यिकाएँ थीं। दो लाख आठ हजार श्रावक थे और चार लाख चौंतीस हजार श्राविका थीं। भगवान के उपदेश से, अनेक भव्य प्राणियों ने आत्म-कल्याण किया।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर, भगवान विमलनाथ, छः सौ साधु सहित सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने, अनशन किया और वेदनीयादि अघातिक कर्म क्षय करके, अन्त में निर्वाण पद प्राप्त किया।

भगवान विमलनाथ, पन्द्रह लाख वर्ष तक कुमार पद पर रहे। तीस लाख वर्ष तक राज्यासन को सुशोभित किया। दो

मास, छद्मस्थ अवस्था में विचरे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। भगवान ने कुल साठ लाख वर्ष का आयुष्य भोगा और भगवान वासुपूज्य के निर्वाण के तीस सागरोपम पश्चात निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान विमलनाथ स्वामी के पूर्वभव का संक्षिप्त चरित्र क्या है ?

२—भगवान के जन्मस्थान का और माता-पिता का नाम क्या था ?

३—माता के गर्भ में भगवान, किस गति से कितने काल का आयुष्य भोगकर पधारे थे ?

४—भगवान, घर में कितनी अवस्था तक रहे और किस २ पद पर कितने-कितने वर्ष ?

५—भगवान का पारणा कहाँ और किसके यहाँ हुआ था ?

६—भगवान के समकालीन वासुदेव वल्देव कौन थे और कहाँ रहते थे ?

७—भगवान विमलनाथ, किस तिथि को जन्मे और मोक्ष पधारे थे ?

८—भगवान विमलनाथ के निर्वाण से कितने पहले, भगवान चन्द्रप्रभु निर्वाण पधारे थे ?

भगवान श्री अनन्तनाथ !

पूर्व भव ।

श्लोकः —

प्रज्ञावतां तनु तमस्त नुतामनन्त
मायाऽसमेत परमोहमलोभवन्तम् ।
स्याद्वादिनामाधिपते महतामनन्त
मायाऽसमेत परमोहम लोभवन्तम् ॥

—*—

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्वीय भाग के ऐरावत क्षेत्र में, अरिष्टा नाम की एक नगरी थी। वहाँ पद्मरथ नाम का राजा राज्य करता था, जिसने अपने पराक्रम से, अनेक राजाओं को जीत कर अपने वश कर रखा था। राज्य-सम्पदा से समृद्ध होने पर भी, पद्मरथ, उसमें फँसा हुआ ही नहीं रहा, किन्तु मुक्ति—लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए उसने, समस्त ऋद्धि तृण के समान त्याग दी और चितरक्ष नाम के गुरु के समीप संयम में प्रवर्जित हो गया। प्रमाद रहित संयम की आराधना करने के साथ ही, अर्हन्त सिद्ध की भक्ति द्वारा तीर्थङ्कर नाम का वन्ध किया। अन्त में, आराधिक हो, प्राणत कल्प के पुष्पोत्तर विमान में, वीस सागर की स्थिति वाला उत्कृष्ट देव हुआ।

अंतिम भव।

जम्बू द्वीप के भरतार्द्ध में, सरयू नदी के किनारे, अयोध्या नाम की प्रसिद्ध एवं पवित्र नगरी है। अयोध्या में, ईक्ष्वाकुवंश के राजा सिंहसेन, राज्य करते थे। सिंहसेन की रानी का नाम सुयशा था, जो श्वसुर एवं पिता के वंश के लिए यश की मूर्त्ति के समान थी।

प्राणत देवलोक के सुख भोगकर और वहाँ का आयुष्य

पूर्ण कर, पद्मरथ राजा का जीव, श्रावण कृष्णा ७ की रात को–जब चन्द्र, रेवती नक्षत्र में आया हुआ था—महारानी सुयशा के उदर में आया। महारानी सुयशा, उस समय सुख निद्रा में निमग्न थीं। उन्होंने, तीर्थङ्कर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों का फल सुनकर, वे प्रसन्न हुईं और सुख-पूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगीं।

गर्भकाल समाप्त होने पर, वैशाख कृष्णा १३ की रात को–पुष्य नक्षत्र में—महारानी सुयशा ने, सिंचान पक्षी के लक्षण वाले स्वर्ण वर्णी पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म होते ही त्रिलोक में प्रकाश हुआ। आसनकम्प से, अवधिज्ञान द्वारा चौदहवें तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान, अच्युतादि विमानिक के नौ इन्द्र ज्योतिषियों के दो इन्द्र, व्यन्तर देवों के बत्तीस इन्द्र, और भुवनपति के बीस इन्द्र—सब ६३ इन्द्र—भगवान का जन्म कल्याण मनाने के लिए, मेरु पर्वत के शिखरस्थ पंडगवन में उपस्थित हुए।

यह—मेरु पर्वत, जम्बू द्वीप के मध्य में है और वैसे, सारे तिर्छे लोक के मध्य में है। इसके सोलह नामों में से एक नाम, लोक-नाभि भी है; क्योंकि यह तिर्छा लोक के ठीक मध्य में है। यह मेरु पर्वत एक लक्ष योजन ऊँचा है। इसकी चौड़ाई सम भूमि पर, दस सजार योजन है, और क्रमशः चौड़ाई कम होते

होते, मस्तक पर केवल एक सहस्र योजन चौड़ा रह गया है। यह पर्वत चार वन से सुशोभित है, जिसमें के चौथे वन का नाम, पण्डकवन है। पण्डकवन की चारों ओर स्वर्णमयी और अर्द्ध चन्द्राकार एक एक शिला है, जिस पर रत्नमयी सिंहासन बने हुए हैं। इन्हीं सिंहासन पर, भगवान तीर्थङ्कर का जन्म कल्याण होता है।

भगवान सुयशा के नन्दन को भी, शक्रेन्द्र, विधिपूर्वक, पण्डक वन के रत्नमयी सिंहासन पर ले गये। वहाँ, क्रमशः सब इन्द्रों ने, भगवान को स्नान करा, वस्त्रालंकार धारण कराये और भगवान की स्तुति की। पश्चात् भगवान को महारानी सुयशा के समीप रखकर, इन्द्र और देव अपने अपने स्थान को गये।

प्रातःकाल पुत्र जन्म की बधाई पाकर, महाराजा सिंहसेन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने, पुत्र-जन्मोत्सव मनाया और पुत्र का नाम, अनन्तकुमार रखा। देवों तथा मनुष्यों द्वारा भगवान अनन्त कुमार का लालन पालन होने लगा। भगवान, वृद्धि पाने लगे और समय पाकर वे युवक हुए। युवावस्था के साथ भगवान का पचास धनुष ऊँचा और सर्व लक्षण-सम्पन्न शरीर, बहुत सुन्दर मालूम होता था। माता-पिता ने, आग्रह-पूर्वक भगवान अनन्तकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया। भगवान अनन्तकुमार, पत्नियों के साथ सुखपूर्वक गार्हस्थ्यजीवन

व्यतीत करने लगे ।

भगवान अनन्तकुमार जब साढ़े सात लाख वर्ष के हुए, तब पिता ने राज-पाट उन्हें सौंप दिया । पन्द्रह लाख वर्ष तक भगवान, पिता का दिया हुआ राज्य-भार वहन करते रहे । जब भगवान की अवस्था साढ़े बाईस लाख वर्ष की हुई, तब वे, सर्व विरत चारित्र लेने को उद्यत हुए । उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर, भगवान अनन्तकुमार से तीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की । भगवान ने उसी समय राज्यादि को त्याग दिया, और वार्षिकदान देने लगे । वार्षिकदान की समाप्ति पर, इन्द्र तथा देवता, भगवान का दीक्षा महोत्सव करने के लिए उपस्थित हुए । दीक्षाभिषेक के पश्चात भगवान अनन्तनाथ, सागरदत्ता नामकी शिबिका में आरूढ़ हुए और नगर से बाहर सहस्राम्र उद्यान में पधारे । उद्यान में शिबिका से उतर कर, भगवान अनन्तनाथ ने, वैशाख कृष्णा १४ को अपरान्ह समय, छट्ठ के तप में, राज-परिवार के एक सहस्र मनुष्यों के साथ संयम स्वीकार किया । दीक्षा लेते ही, भगवान को मनःपर्यय नाम का चौथा ज्ञान हुआ ।

दीक्षा लेकर भगवन, अयोध्या से विहार कर गये । दूसरे दिन, वर्द्धमान नगर में विजय राजा के यहाँ, भगवान का परमान्न से पारणा हुआ । देवताओं ने, पाँच दिव्य प्रकट करके दान की महिमा की । वर्द्धमान नगर से भगवान, जन-पद में

विहार कर गये।

तीन वर्ष तक अनेक ग्राम नगर में अप्रमत्त अवस्था में विचरते रहने के पश्चात् भगवान, अयोध्या नगरी के उसी सहस्राम्र उद्यान में पधारे। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे, ध्यानस्थ प्रभु, श्रेणी आरूढ़ हुए और घातिक कर्मों को नष्ट करके वैशाख कृष्ण १४ को—जब चन्द्र का रेवती नक्षत्र के साथ योग हुआ—केवलज्ञान रूपी अनन्त विभूति के स्वामी बने। भगवान को केवलज्ञान होते ही, तीनों लोक में प्रकाश हुआ।

अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र और देवताओं ने जाना, कि भगवान अनन्तनाथ को केवलज्ञान हुआ है। वे, तत्क्षण अपनी सब विभूति सहित, भगवान का केवलज्ञानोत्सव करने और भगवान की दिव्यवाणी श्रवण करने के लिए उपस्थित हुए। समवशरण की रचना हुई। भगवान ने द्वादश प्रकार की परिषद् के सम्मुख, अमोघवाणी का प्रकाश किया। भगवान की वाणी सुन कर, अनेक भव्य जीव, प्रतिबोध पाये।

भगवान, विचरते-विचरते द्वारकापुरी में पधारे। उस समय द्वारकापुरी में, पुरुषोत्तम नाम के चौथे वासुदेव और सुप्रभ नाम के चौथे बलदेव तीन खण्ड पृथ्वी का शासन कर रहे थे। उद्यान रक्षक ने, इन चौथे हरि हलधर को, भगवान के पधारने की बधाई दी। वासुदेव ने, सिंहासन से उठ कर, वहीं से

भगवान को वन्दना की, और उद्यान रक्षक को पुस्कार देकर विदा किया। पश्चात्, आप अपने वैभव सहित, भगवान को वन्दना करने के लिए, द्वारका के उद्यान में आये। भगवान के, छत्र चामर आदि अष्टप्रतिहार्य दिखते ही, वासुदेव हाथ से नीचे उतर पड़े। उन्होंने, नंगे पाँव और नम्रतापूर्वक समवशरण में प्रवेश किया। भक्ति-पूर्वक वन्दना नमस्कार करके, अपने साथियों सहित वासुदेव, इन्द्र के पीछे बैठ गये। भगवान ने, भवसागर से तारनेवाली वाणी का प्रवाह छोड़ा, जिसे श्रवण करके अनेक भव्य जीव, बोध पाये और संयम में प्रवर्जित हुए। बहुतों ने, श्रावकव्रत स्वीकार किये, तथा पुरुषोत्तम अर्द्धचक्री ने, सम्यक्त्व ग्रहण किया।

भगवान अनन्तनाथ के, यशोधर आदि पचास गणधर* थे। छाँसठ सहस्र मुनि थे। बाँसठ सहस्र सतियाँ थीं। दोलाख छः हजार श्रावक थे और चार लाख चौदह सहस्र श्राविका थीं। इनके सिवा, अनेक भव्य जीव, सम्यक्त्वधारी भी थे।

भगवान अनन्तनाथ, तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष

---

*तीर्थङ्कर भववान, उपनेवा, विन्नेवा और धुपेवा ये-त्रिपदी-फर्माते हैं, उस पर से जो महा पुरुष अपनी पवित्र और निर्मल बुद्धि से, चौदह पूर्वादि द्वादशांगी की रचना कर लेते हैं, उन महापुरुषों को 'गणधर' कहते हैं। —लेखक।

तक केवली पर्याय में विचरे। अपना निर्वाण काल समीप जान सात सौ मुनियों सहित भगवान, सम्मेत शिखर पर पधार गये। सम्मेत शिखर पर भगवान ने, अनशन कर लिया। अन्त में, चैत्र शुक्ल ५ के दिन पुष्प नक्षत्र में, भगवान अनन्तनाथ, शैलेशी अवस्था को प्राप्त करके, सब कर्मों से रहित हो, सिद्ध पद को प्राप्त हुए। भगवान अनन्तनाथ का निर्वाण, भगवान विमल-नाथ के निर्वाण से नव सागरोपम पश्चात् हुआ था।

प्रश्नः—

१—पूर्वभव में भगवान अनन्तनाथ कौन थे, कहाँ रहते थे और किस करणी से किस गति को प्राप्त हुए थे?

२—भगवान अनन्तनाथ के माता-पिता और जन्मस्थान का नाम?

३—भगवान के समकालीन वासुदेव बल्देव कौन थे?

४—भगवान ने कुल कितनी आयु भोगी और किस-किस कार्य में कितनी-कितनी?

५—गणधर किन्हें कहते हैं?

६—कुल कितने इन्द्र हैं और कौन किन-किन देवताओं के?

७—भगवान अनन्तनाथ के निर्वाण में और भगवान विमलनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा?

भगवान श्री धर्मनाथ ।
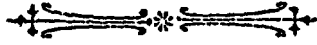
पूर्व भव ।

श्लोकः —

सद्धर्म धर्म भवतु प्रणातिर्विमुक्ता
मायापते तनु भयाय धरेश भानोः ।
यस्याभिधान भवद् भाविनां पावित्रा
मायापतेऽतनु भवाय धरेश भानोः ॥

घातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह में, भरत विजय के अन्तर्गत भद्दिल नाम का एक नगर था। वहाँ दृढ़रथ नाम का पराक्रमी राजा राज्य करता था। दृढ़रथ ने, अपने पड़ोसी अनेक राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर रखा था। इतना होते हुए भी, दृढ़रथ धर्म-सेवा को न भूला था, अपितु धर्म की आराधना करता रहता और संसारिक कार्यों में, जल कमलवत् अलिप्त रहता था। समय पाकर दृढ़रथ ने, सांसारिक ऋद्धि को, उसी प्रकार त्याग दी, जिस प्रकार मल त्यागा जाता है, और विमलवाहन गुरु से, संयम स्वीकार लिया। दुस्तर तप और अर्हद्-भक्ति आदि बोलों की उत्कृष्ट भाव से आराधना करके दृढ़रथ ने, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में, समाधि मरण से शरीर त्याग, वैजयन्त विमान में बत्तीस सागर की आयुवाला देव हुआ।

अन्तिम भव।

जम्बू द्वीप के दक्षिण विभाग में, भरतक्षेत्र के अन्तर्गत, रत्नपुर नाम का नगर था जो बहुत ही रमणीय और सब प्रकार से समृद्ध था। वहाँ, भानु नाम के राजा राज्य करते थे। महाराजा भानु की रानी का नाम सुव्रता था, जो अपने पवित्र आचरण से

दोनों कुल की शोभा बढ़ानेवाली थी। राजा-रानी, आनन्द से समय व्यतीत करते थे।

विजय विमान का आयुष्य भोग कर, राजा दृढ़रथ का जीव, वैशाख शुक्ल ७ की रात में—पुष्य नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग आने पर—महारानी सुव्रता के गर्भ में आया। सुखपूर्वक शयन किये हुई महारानी सुव्रता ने, तीर्थंकर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखे। हर्ष सहित, वे गर्भ का पोषण करने लगीं।

गर्भकाल समाप्त होने पर, माघ शुक्ला ३ की रात को पुष्य नक्षत्र में महारानी सुव्रता ने, वज्र के लक्षण वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। तत्क्षण त्रैलोक्य में प्रकाश हुआ और क्षणभर के लिए नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान कर, इन्द्र तथा देवों ने भगवान का जन्म कल्याणोत्सव किया।

प्रातःकाल महाराजा भानु ने पुत्र जन्मोत्सव मना कर, पुत्र का नाम धर्मनाथ रखा। भगवान धर्मनाथ जिस समय गर्भ में थे, उस समय महारानी सुव्रता को धर्म करने की इच्छा हुई थी। इसी बात को दृष्टि में रख कर, भगवान का नाम धर्मनाथ रखा गया।

देवकुमारों के साथ बालक्रीड़ा करते हुए भगवान धर्मनाथ वृद्धि पाने लगे। समय पर भगवान धर्मनाथ, युवक हुए। युवावस्था में भगवान का पैंतालीस धनुप ऊँचा सर्वाङ्ग सुन्दर और तेजोमय शरीर, बहुत शोभायमान दिखने लगा। माता-पिता के

आग्रह से भगवान धर्मनाथ ने, पुण्य-फल भोगने के लिए विवाह किया। पत्नी सहित भगवान, आनन्द-पूर्वक रहने लगे।

भगवान धर्मनाथ की अवस्था जब ढाई लाख वर्ष की हुई, तब महाराजा भानु ने राजपाट भगवान को सौंप दिया। पाँच लाख वर्ष तक भगवान धर्मनाथ, पिता के सौंपे हुए राज्य को नीति-पूर्वक चलाते रहे। एक दिन भगवान ने विचार किया, कि अब मेरे भोगफल देने वाले कर्म निःशेष होने आये हैं, इसलिए मुझे, स्व-पर कल्याणार्थ धर्म और तीर्थ की प्रवृत्ति करनी चाहिए। इतने ही में ब्रह्मलोकवासी लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो, अब समय आगया है, इसलिए धर्मतीर्थ प्रवर्ताइये। स्वयं के विचार एवं देवों की प्रार्थना को ध्यान में लेकर, भगवान ने राजपाट त्याग वार्षिकदान देना आरम्भ कर दिया।

वार्षिकदान की समाप्ति पर, इन्द्र तथा देव, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुए। दीक्षाभिषेक हो जाने के पश्चात् भगवान, नगर के बाहर उद्यान में पधारे। वहाँ, माघ शुक्ला १३ के दिन एक सहस्र राजाओं सहित भगवान, संयम में प्रव्रजित हो गये। संयम स्वीकार करते ही भगवान धर्मनाथ को, मनःपर्यय नाम का चौथा ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान, रत्नपुर से विहार कर गये। दूसरे

दिन, सोमनसपुर में धर्मसिंह राजा के यहाँ भगवान का परमान्न से पारणा हुआ। भगवान, वहाँ से जनपद में विहार कर गये।

पक्षी की तरह स्वतन्त्र विचरते हुए और अनेक परिषह सहन पूर्वक संयम का पालन करते हुए, भगवान, दो वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे। विचरते हुए भगवान, रत्नपुर के उसी प्रकांचन उद्यान में पधारे। वहाँ, दधिपर्ण वृक्ष के नीचे, भगवान ने अपने घातिक कर्म क्षय कर दिये, जिससे पौष शुक्ल १५ के दिन-जब चन्द्र, पुष्य नक्षत्र के योग में प्राप्त हुआ—उस समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

भगवान धर्मनाथ को केवलज्ञान होते ही, इन्द्र और देवता, सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने, केवल ज्ञानोत्सव किया। समवशरण की रचना हुई। भगवान धर्मनाथ ने, भव्य जीवों का उद्धार करने वाली वाणी की धारा बरसाई। भगवान की वाणी सुनकर, अनेक भव्य जीवों ने प्रतिबोध पाया और आत्म-कल्याण किया।

भगवान धर्मनाथ, विचरते-विचरते अश्वपुर नगर के उद्यान में पधारे। उस समय वहाँ पुरुषसिंह नाम के वासुदेव और सुदर्शन नाम के बलदेव, अर्द्ध चक्री के वैभव को भोग रहे थे। उद्यान—रक्षक ने, पुरुषसिंह वासुदेव को भगवान धर्मनाथ के पधारने की बधाई दी। भगवान पधारे हैं, यह जान कर वासुदेव

बहुत हर्षित हुए। उन्होंने; सिंहासन से उठकर, वहीं से भगवान को वन्दन किया और उद्यान-रक्षक को पुरस्कार दिया। पश्चात् पाँचवें वासुदेव पुरुषसिंह, अपनी सब ऋद्धि एवं सुदर्शन बलदेव सहित, भगवान को वन्दन करने के लिए उद्यान में आये। भगवान को विधिवत वन्दना नमस्कार करने के पश्चात्, वासुदेव और बल्देव, इन्द्र के पीछे बैठ गये। भगवान ने, दिव्य-वाणी प्रकाशित की जिसे सुनकर अनेक भव्य जीवों ने, आत्म-कल्याण का मार्ग पकड़ा और वासुदेव नें भी सम्यक्त्व स्वीकार किया।

भगवान धर्मनाथ ने, दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष केवली पर्याय में विचरते रह कर,अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। भगवान के रिष्ट आदि त्रैतालिस गणधर थे। चौंसठ हजार मुनि थे। बाँसठ हजार छःसौ साध्वियाँ थीं। दो लाख चालीस हजार श्रावक थे और चार लाख तेरा हजार श्राविका थीं। इनके सिवा अनेक भव्य जीव, सम्यक्त्व—धारी भी हुए।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर भगवान धर्मनाथ, एक सौ आठ मुनियों को लेकर, सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने सदा के लिए अनशन कर लिया। अन्त में, ज्येष्ठ शुक्ल ५ के दिन पुष्प नक्षत्र में, भगवान, निर्वाण पधारे। देवता तथा इन्द्रोंने, भगवान के शरीर का अन्तिम संस्कार किया और अठाई महोत्सव करके अपने-अपने स्थान को गये।

भगवान धर्मनाथ, ढाई लाख वर्ष कुमार पद पर रहे। पाँच लाख वर्ष राज्य किया। दो वर्ष, छद्मस्थ रहे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार सब दस लाख वर्ष का आयुष्य भोग कर भगवान धर्मनाथ, भगवान अनन्तनाथ के निर्वाण के पौन पल्य कम तीन सागरोपम पश्चात्, निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान धर्मनाथ के पूर्व भव का संक्षिप्त चरित्र क्या है ?

२—माता के गर्भ में भगवान धर्मनाथ का जीव, किस गति में से और वहाँ कितना आयुष्य भोग कर आया था ?

३—भगवान के माता-पिता और जन्मस्थान का नाम क्या है ?

४—भगवान धर्मनाथ के समकालीन वासुदेव बल्देव कौन थे ?

५—भगवान की आयु कितनी थी और भगवान के अनुयाइयों की भिन्न-भिन्न संख्या क्या है ?

६—भगवान की जन्म तिथि और निर्वाण तिथि बताओ ?

भगवान श्री शान्तिनाथ ।

पूर्व भव ।

श्लोक :—

यंस्तौति शान्ति जिनामिन्द्र ततिर्नितान्तं
श्री जात रूपतनु कान्त रसाभिरामम् ।
शान्ति सुरीभिराभि नूतनुदन् सनुन्नः
श्री जात रूप तनुकान्त रसाभिरामम् ॥

इसी जम्बू द्वीप के अन्तर्गत दक्षिण दिशा के, मण्डन रूप भरत क्षेत्र है। उसमें रत्नपुर नाम का नगर था। वहाँ, श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। श्रीसेन की अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता नाम्नी दो रानियाँ थीं।

बड़ी रानी अभिनन्दिता ने, एक रात को स्वप्न में यह देखा कि मेरी गोद में सूर्य और चन्द्र आये हैं। अभिनन्दिता ने अपना यह शुभ स्वप्न, अपने पति महाराजा श्रीसेन को सुनाया महाराजा श्रीसेन ने, स्वप्न का यह फल बताया कि तुम्हारे दो उत्कृष्ट पुत्र होंगे।

समय पाकर महारानी अभिनन्दिता ने एक साथ दो पुत्र प्रसव किये। महाराजा श्रीसेन ने पुत्र-जन्मोत्सव करके, दोनों पुत्रों का क्रमशः इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम दिया। कुछ ही समय में दोनों कुमार बड़े हुए।

उस समय, अचल नाम के ग्राम में, धरणीजट नाम का एक ब्राह्मण रहता था। धरणीजट ब्राह्मण, था तो विद्वान, फिर भी उसने एक दासी को अपनी प्रेयसी बना रखी थी। धरणीजट के संयोग से, दासी के एक पुत्र हुआ। समय पाकर यह दासी—पुत्र बड़ा हुआ।।उसका नाम कम्पिल था।

धरणीजट ब्राह्मण, नन्दिभूति और शिवभूति नाम के अपने लड़कों को पढ़ाया करता था। दासी पुत्र कम्पिल, धरणीजट और

नन्दिभूति शिवभूति के अध्यापन अध्ययन को सुन सुनकर, वेद का पारगामी हो गया। कुछ दिन पश्चात् कम्पिल, विदेश चला गया। घूमते फिरते कम्पिल, रत्नपुर नगर में आया। रत्नपुर नगर में वह, सत्यकी उपध्याय की पाठशाला में जाया करता था। सत्यकी उपाध्याय ने, कुशाग्र बुद्धि कम्पिल को कुलवान जानकर, उसके साथ अपनी सत्यभामा नाम्नी कन्या का विवाह कर दिया। कम्पिल, सत्यभामा के साथ आनन्द पूर्वक रहने लगा। नागरिकों के लिए कम्पिल प्रतिष्टापात्र बन गया था।

एक रात कम्पिल नाटक देखने गया। रात अधिक हो गई थी। वह जब घर आने लगा, तब वर्षा होने लगी। कम्पिल ने सोचा कि मार्ग में कोई आदमी तो है नहीं, फिर कपड़े क्यों भीगने दूँ! यह विचार कर कम्पिल ने शरीर के सब वस्त्र निकाल अपनी बगल में दाब लिये और नग्न शरीर घर को आया। घर आकर वह अपनी पत्नी सत्यभामा से कहने लगा, कि—देखो, मैंने अपनी विद्या के प्रभाव से, वर्षा होने पर भी कपड़े नहीं भीगने दिये। सत्यभामा ने देखा कि पति के कपड़े तो सूखे हैं, परन्तु इनका शरीर वर्षा से भीगा हुआ है। वह समझ गई, कि पति, नग्न शरीर आये हैं और इनने द्वार पर ही कपड़े पहने हैं, लेकिन जो पुरुष राजपथ पर नग्न होकर चल सकता है, वह अवश्य ही कुलहीन है। पति को कुलहीन समझ कर, सत्यभामा

कपिल से विरक्त हो, श्रीक्षेन राजा के पास आई, और श्रीक्षेन राजा से प्रार्थना करने लगी कि—हे महाराज, दुर्दैव से मुझे कुल-हीन पति मिला है, और मेरी इच्छा उसके साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की नहीं है, अतः आप मुझे इस अकुलीन पति से छुड़ाकर मेरी रक्षा करें। राजा ने, सत्यभामा की प्रार्थना स्वीकार करके, पति-पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद करा दिया। पति से छुटकारा पाकर सत्यभामा, तप करती हुई, शील की रक्षा करने लगी।

कौशम्बी के राजा बल की कन्या का नाम श्रीकान्ता था। श्रीकान्ता ने, राजा श्रीक्षेन के पुत्र कुमार इन्दुसेन को अपने लिए वर पसन्द किया। वह, स्वयंवरा होकर इन्दुसेन के घर आई। श्रीकान्ता के साथ, एक अनन्तमतिका नाम की वेश्या भी आई। अनन्तमतिका, युवती और रूप सम्पन्ना थी, इस कारण इन्दु-सेन और विन्दुसेन दोनों ही भाई उस पर मुग्ध हो गये, तथा वेश्या को अपनी अपनी बता कर आपस में लड़ने लगे। महा-राजा श्रीक्षेन ने, अपने दोनों पुत्रों का आपसी कलह मिटाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु दोनों भाइयों में से कोई भी न माना। निराश हो, राजा श्रीक्षेन ने, अपनी दोनों रानियों सहित, जहरी कमल सूँघ कर, प्राण त्याग दिया। राजा और दोनों रानियों की मृत्यु हुई जान कर, शरणागत सत्यभामा भयभीत हुई कि अब मेरी रक्षा कौन करेगा! मेरा रक्षक राजा नहीं रहा,

इसलिए कपिल मुझे सतावेंगे, इस भय से सत्यभामा ने भी ज़हरी कमल सूँघ कर शरीर छोड़ दिया।

शुद्ध और सरल परिणामों के प्रभाव से, ये चारों जीव उत्तर कुरु क्षेत्र में, भोग प्रधान युगलियों के दो जोड़ के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ, तीन पल्योपम का आयुष्य भोग कर, विरह-रहित चारों ही जीव, प्रथम स्वर्ग में गये।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन, दोनों आपस में युद्ध कर रहे थे। क्रोध मोह आदि के वशीभूत बने हुए दोनों कुमार, किसी के भी समझाने से नहीं माने। उसी समय, विमान में बैठ कर एक विद्याधर आया। वह युद्ध करते हुए दोनों कुमार के बीच में खड़ा हो, हाथ ऊपर करके दोनों से कहने लगा कि—अरे मूर्खों! जिस वेश्या के लिए तुम दोनों भाई आपस में युद्ध कर रहे हो, वह तो तुम्हारी—पूर्व-भव की—बहन है! तुम इस बात को न समझ कर, अपनी-अपनी स्त्री बनाने के लिए क्यों लड़ रहे हो! तुम लोग मुझ से पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनो। विद्याधर की बात सुन कर दोनों ने युद्ध बन्द कर दिया और विद्याधर से पूर्व भव का वृत्तान्त सुनने लगे। विद्याधर ने पूर्व भव का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा, कि—तुम दोनों भाई और यह वेश्या, पूर्व भव में—तीनों ही-बहनें-बहनें थीं, और मैं, तुम तीनों बहनों की माता थी। तुम तीनों में से एक बहन—

जो अब वेश्या है—ने, एक वेश्या के लिए दो पुरुषों को युद्ध करते देख कर, यह अभिलाषा की, कि मेरे तप के फलस्वरूप आगामी-भव में, मुझे भी ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। यानी मैं भी ऐसी होऊँ, कि मेरे वास्ते दो पुरुष आपस में युद्ध करें। तप के बदले में इस प्रकार का फल चाहने की इच्छा के कारण, यह इस भव में वेश्या हुई है।

यह सुनकर दोनों भाइयों का मोह शान्त हुआ। वे दोनों, विद्याधर से कहने लगे कि आप पूर्व-भव में तो हमारी माता थी हीं, लेकिन इस भव में भी आपने हमारे गुरु बनकर हम पर बहुत उपकार किया है। हम आपके ऋणी हैं। ऐसा कह कर, दोनों भाई संसार से विरक्त हो गये। धर्मरूचि मुनि से दोनों भाइयों ने संयम स्वीकार कर लिया, और महान तप एवं शुभ और शुद्ध ध्यान द्वारा घातिक कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

इसी भरतक्षेत्र के मध्य में, वैताढ्यगिरि नाम का एक पर्वत है। उसकी उत्तर और दक्षिण दिशा में, विद्याधरों की श्रेणियाँ हैं। वहाँ, रथनुपुर नाम का एक नगर था और ज्वलनजटी नाम का विद्याधर रहता था, जिसके अर्ककीर्त्ति नाम का पुत्र और स्वयंप्रभा नाम की परम सुन्दरी कन्या थी। स्वयंप्रभा का विवाह, त्रिपृष्ट वासुदेव के साथ हुआ था।

अर्ककीर्त्ति की पत्नी का नाम, ज्योतिर्माला था। श्रीषेन राजा का जीव, ज्योतिर्माला की कोख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ जिसका नाम, अमिततेज रखा गया। सत्यभामा का जीव भी, ज्योतिर्माला की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुतारा रखा गया। अर्ककीर्त्ति की पुत्री और त्रिपृष्ट वासुदेव की रानी स्वयंप्रभा की कोख से, अभिनन्दिता रानी का जीव पुत्र रूप में और शिखिनन्दिता रानी का जीव पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। इन दोनों के नाम क्रमशः श्रीविजय और ज्योतिर्प्रभा दिये। समय पाकर, अर्ककीर्त्ति की कन्या सुतारा का विवाह श्रीविजय के साथ और ज्योतिर्प्रभा का विवाह अमिततेज के साथ हो गया।

त्रिपृष्ट वासुदेव का शरीरान्त होने के कुछ समय पश्चात् अचल बलदेव संसार से विरक्त हो गये और संयम स्वीकार कर लिया। तब पोतनपुर के राजा श्रीविजय हुए। उधर रथनुपुर का राज्य अमिततेज को सौंप कर, ज्वलनजटी और अर्ककीर्ति ने भी दीक्षा ले ली।

एक समय, महाराजा अमिततेज, अपनी बहन सुतारा से मिलने के लिए पोतनपुर आये। उस समय, पोतनपुर नगर में और विशेषतः पोतनपुर की राज सभा में, बड़ा ही आनन्दोत्सव हो रहा था। महाराजा श्रीविजय द्वारा स्वागत सत्कार हो जाने

के पश्चात्, महाराजा अमिततेज ने उनसे इस उत्सव का कारण पूछा। महाराजा अमिततेज के प्रश्न के उत्तर में, महाराजा श्रीविजय कहने लगे, कि 'आज से आठ दिन पहले, एक भविष्यवाणी करने वाला आया था। मैंने उस भविष्यभाषी से पूछा, कि तुम किस लिए आये हो? तुम्हारा आने का उद्देश्य कुछ याचना करना है, या किसी प्रकार का भविष्य बताने आये हो? उस भविष्यवक्ता ने कहा कि मैं याचक तो हूँ ही, लेकिन इस समय याचना करने नहीं आया हूँ, किन्तु न कहने योग्य भविष्य की एक बात कहने के लिए आया हूँ, जिससे धर्मकृत्यादि द्वारा दुर्भविष्य का प्रतिकार किया जा सके। मेरे पूछने पर उसने कहा, कि—'आज के सातवें दिन, पोतनपुर के राजा पर महाघोर विद्युत्पात होगा।' यह कटु भविष्य सुन कर, मेरे प्रधान मन्त्री ने उस भविष्यभाषी से कहा, कि—जब पोतनपुर के राजा के ऊपर बिजली गिरेगी, उस समय तेरे पर क्या गिरेगा? उस भविष्य-भाषी ने, प्रधानमन्त्री से कहा—मन्त्रीवर, आप मेरे पर क्यों रुष्ट होते हैं? मैं तो शास्त्र में जैसा देखता हूँ, वैसा कहता हूँ। फिर भी आप पूछते हैं—इसलिए मैं आपसे कहता हूँ, कि उस समय मेरे ऊपर वस्त्राभूषण, मणिमाणिक और स्वर्णादि-द्रव्य की वृष्टि होगी। भविष्यवक्ता की बात सुनकर, मैंने प्रधानमन्त्री से कहा, कि—मन्त्री, इन पर कोप न करो, ये तो यथार्थ भविष्य

कहने के कारण उपकारी ही हैं। भविष्यवक्ता की बात सुनकर, मेरे मन्त्रीगण अपने राजा की रक्षा के लिए उपाय सोचने लगे। कोई कहने लगा कि समुद्र में विद्युत्पात नहीं होता, इसलिए महाराजा को समुद्र में रखा जावे। कोई, पर्वत की गुफा में रहने की सम्मति देने लगा। कोई यह कहने लगा कि भावी नहीं टलती, इसलिए कर्मनाश करने को तप करना चाहिए; क्योंकि तप का प्रभाव बहुत होता है।

इस तरह होते होते एक मन्त्री ने कहा कि इस भविष्यवक्ता की भविष्य वाणी के अनुसार पोतनपुर के राजा पर विद्युत्पात होगा, नकि श्रीविजय पर। इसलिए पोतनपुर का राजा किसी दूसरे को बना दिया जावे और तब तक महाराजा श्रीविजय, धर्मध्यान करते रहें। ऐसा करने से, अहित टल जावेगा। यह सुनकर उस भविष्यवक्ता ने ऐसा कहने वाले मन्त्री से कहा, कि—मेरे निमित्त ज्ञान से आपका मतिज्ञान निर्मल है। इसलिए जैसा आप कहते हैं। ऐसा ही करना ठीक है। तब मैंने कहा कि इस योजना के अनुसार तो जिसे भी राजा बनाया जावेगा, वह निरपराधी होने पर भी व्यर्थ में मारा जावेगा। ऐसा होना तो कदापि भी उचित नहीं है। क्योंकि चींटी से लगाकर, इन्द्र तक को अपना जीवन प्यारा है। राजा का कर्त्तव्य निर्बल की रक्षा करना है, और इसीलिए मैं हाथ में तलवार लेकर बैठा हूँ।

फिर मेरी रक्षा के लिए किसी निरपराधी की हत्या होने देना मेरे लिए श्रेय कैसे हो सकता है। मेरी बात सुन कर, वह मन्त्री कहने लगा कि, हमें तो आपका भावी अनिष्ट भी दूर करना है, और किसी की हत्या भी नहीं करना है। अतः वैश्रवण यक्ष की प्रतिमा का राज्याभिषेक करके, सात दिन के लिए उसे यहाँ का राजा बना दिया जावे। हम लोग भी उस मूर्त्ति की सेवा सात दिन तक उसी प्रकार करें, जिस प्रकार आपकी करते हैं।'

'मन्त्री की यह बात मुझे भी जँच गई। यक्ष-प्रतिमा को राज्याभिषिक्त कर, मैं पोषधशाला में गया। वहाँ मैं पोषध करके बैठ गया। सातवें दिन, मध्यान्ह समय सहसा गर्ज घुमड़ कर मेघ चढ़ आया और थोड़ी ही देर में यक्ष-प्रतिमा पर भयंकर विद्युत्पात हुआ। यक्ष की प्रतिमा के टुकड़े टुकड़े हो गये। यह दुर्घटना देख कर, उस भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी सत्य हुई और उसकी भविष्यवाणी के फलस्वरूप राजा की रक्षा हो सकी यह विचार अन्तःपुर एवं प्रधान की ओर से उस भविष्यवक्ता पर स्वर्ण रत्न और वस्त्राभूषण आदि की वृष्टि हुई। मैंने भी उस भविष्यवक्ता को, पद्मिनीखण्ड नाम का नगर प्रदान किया और सम्मान सहित उसे विदा किया। यक्ष की जो मूर्त्ति विद्युत्पात से खण्ड खण्ड हो गई थी, उसके स्थान पर मैंने रत्न की मूर्त्ति बनवा दी।'

धातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह में, भरत विजय के अन्तर्गत भद्दिल नाम का एक नगर था। वहाँ दृढ़रथ नाम का पराक्रमी राजा राज्य करता था। दृढ़रथ ने, अपने पड़ोसी अनेक राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर रखा था। इतना होते हुए भी, दृढ़रथ धर्म-सेवा को न भूला था, अपितु धर्म की आराधना करता रहता और संसारिक कार्यों में, जल कमलवत् अलिप्त रहता था। समय पाकर दृढ़रथ ने, सांसारिक ऋद्धि को, उसी प्रकार त्याग दी, जिस प्रकार मल त्यागा जाता है, और विमलवाहन गुरु से, संयम स्वीकार लिया। दुस्तर तप और अर्हद्-भक्ति आदि बोलों की उत्कृष्ट भाव से आराधना करके दृढ़रथ ने, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में, समाधि मरण से शरीर त्याग, वैजयन्त विमान में बत्तीस सागर की आयुवाला देव हुआ।

अन्तिम भव।

जम्बू द्वीप के दक्षिण विभाग में, भरतक्षेत्र के अन्तर्गत, रत्नपुर नाम का नगर था जो बहुत ही रमणीय और सब प्रकार से समृद्ध था। वहाँ, भानु नाम के राजा राज्य करते थे। महाराजा भानु की रानी का नाम सुव्रता था, जो अपने पवित्र आचरण से

दोनों कुल की शोभा बढ़ानेवाली थी। राजा-रानी, आनन्द से समय व्यतीत करते थे।

विजय विमान का आयुष्य भोग कर, राजा दृढ़रथ का जीव, वैशाख शुक्ल ७ की रात में—पुष्य नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग आने पर—महारानी सुव्रता के गर्भ में आया। सुखपूर्वक शयन किये हुई महारानी सुव्रता ने, तीर्थंकर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखे। हर्ष सहित, वे गर्भ का पोषण करने लगीं।

गर्भकाल समाप्त होने पर, माघ शुक्ला ३ की रात को पुष्य नक्षत्र में महारानी सुव्रता ने, वज्र के लक्षण वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। तत्क्षण त्रैलोक्य में प्रकाश हुआ और क्षणभर के लिए नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान कर, इन्द्र तथा देवों ने भगवान का जन्म कल्याणोत्सव किया।

प्रातःकाल महाराजा भानु ने पुत्र जन्मोत्सव मना कर, पुत्र का नाम धर्मनाथ रखा। भगवान धर्मनाथ जिस समय गर्भ में थे, उस समय महारानी सुव्रता को धर्म करने की इच्छा हुई थी। इसी बात को दृष्टि में रख कर, भगवान का नाम धर्मनाथ रखा गया।

देवकुमारों के साथ बालक्रीड़ा करते हुए भगवान धर्मनाथ वृद्धि पाने लगे। समय पर भगवान धर्मनाथ, युवक हुए। युवावस्था में भगवान का पैंतालीस धनुष ऊँचा सर्वाङ्ग सुन्दर और तेजोमय शरीर, बहुत शोभायमान दिखने लगा। माता-पिता के

आग्रह से भगवान धर्मनाथ ने, पुण्य-फल भोगने के लिए विवाह किया। पत्नी सहित भगवान, आनन्द-पूर्वक रहने लगे।

भगवान धर्मनाथ की अवस्था जब ढाई लाख वर्ष की हुई, तब महाराजा भानु ने राजपाट भगवान को सौंप दिया। पाँच लाख वर्ष तक भगवान धर्मनाथ, पिता के सौंपे हुए राज्य को नीति-पूर्वक चलाते रहे। एक दिन भगवान ने विचार किया, कि अब मेरे भोगफल देने वाले कर्म निःशेष होने आये हैं, इसलिए मुझे, स्व पर कल्याणार्थ धर्म और तीर्थ की प्रवृत्ति करनी चाहिए। इतने ही में ब्रह्मलोकवासी लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो, अब समय आगया है, इसलिए धर्मतीर्थ प्रवर्ताइये। स्वयं के विचार एवं देवों की प्रार्थना को ध्यान में लेकर, भगवान ने राजपाट त्याग वार्षिकदान देना प्रारम्भ कर दिया।

वार्षिकदान की समाप्ति पर, इन्द्र तथा देव, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुए। दीक्षाभिषेक हो जाने के पश्चात् भगवान, नगर के बाहर उद्यान में पधारे। वहाँ, माघ शुक्ला १३ के दिन एक सहस्र राजाओं सहित भगवान, संयम में प्रव्रजित हो गये। संयम स्वीकार करते ही भगवान धर्मनाथ को, मनःपर्यय नाम का चौथा ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान, रत्नपुर से विहार कर गये। दूसरे

दिन, सोमनसपुर में धर्मसिंह राजा के यहाँ भगवान का परमान्न से पारणा हुआ। भगवान, वहाँ से जनपद में विहार कर गये।

पक्षी की तरह स्वतन्त्र विचरते हुए और अनेक परिपह सहन पूर्वक संयम का पालन करते हुए, भगवान, दो वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे। विचरते हुए भगवान, रत्नपुर के उसी प्रकांचन उद्यान में पधारे। वहाँ, दधिपर्ण वृक्ष के नीचे, भगवान ने अपने घातिक कर्म क्षय कर दिये, जिससे पौप शुक्ले १५ के दिन-जब चन्द्र, पुष्य नक्षत्र के योग में प्राप्त हुआ—उस समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

भगवान धर्मनाथ को केवलज्ञान होते ही, इन्द्र और देवता, सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने, केवल ज्ञानोत्सव किया। समवशरण की रचना हुई। भगवान धर्मनाथ ने, भव्य जीवों का उद्धार करने वाली वाणी की धारा बरसाई। भगवान की वाणी सुनकर, अनेक भव्य जीवों ने प्रतिबोध पाया और आत्म-कल्याण किया।

भगवान धर्मनाथ, विचरते-विचरते अश्वपुर नगर के उद्यान में पधारे। उस समय वहाँ पुरुषसिंह नाम के वासुदेव और सुदर्शन नाम के बलदेव, अर्द्ध चक्री के वैभव को भोग रहे थे। उद्यान—रक्षक ने, पुरुषसिंह वासुदेव को भगवान धर्मनाथ के पधारने की बधाई दी। भगवान पधारे हैं, यह जान कर वासुदेव

बहुत हर्षित हुए। उन्होंने, सिंहासन से उठकर, वहीं से भगवान को वन्दन किया और उद्यान-रक्षक को पुरस्कार दिया। पश्चात् पाँचवें वासुदेव पुरुषसिंह, अपनी सब ऋद्धि एवं सुदर्शन बलदेव सहित, भगवान को वन्दन करने के लिए उद्यान में आये। भगवान को विधिवत वन्दना नमस्कार करने के पश्चात्, वासुदेव और बल्देव, इन्द्र के पीछे बैठ गये। भगवान ने, दिव्य-वाणी प्रकाशित की जिसे सुनकर अनेक भव्य जीवों ने, आत्म-कल्याण का मार्ग पकड़ा और वासुदेव ने भी सम्यक्त्व स्वीकार किया।

भगवान धर्मनाथ ने, दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष केवली पर्याय में विचरते रह कर, अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। भगवान के रिष्ट आदि तैतालिस गणधर थे। चौंसठ हजार मुनि थे। बाँसठ हजार छः सौ साध्वियाँ थीं। दो लाख चालीस हजार श्रावक थे और चार लाख तेरा हजार श्राविका थीं। इनके सिवा अनेक भव्य जीव, सम्यक्त्व—धारी भी हुए।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर भगवान धर्मनाथ, एक सौ आठ मुनियों को लेकर, सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने सदा के लिए अनशन कर लिया। अन्त में, ज्येष्ठ शुक्ल ५ के दिन पुष्य नक्षत्र में, भगवान, निर्वाण पधारे। देवता तथा इन्द्रों ने, भगवान के शरीर का अन्तिम संस्कार किया और अठाई महोत्सव करके अपने-अपने स्थान को गये।

भगवान धर्मनाथ, ढाई लाख वर्ष कुमार पद पर रहे। पाँच लाख वर्ष राज्य किया। दो वर्ष, छद्मस्थ रहे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार सब दसलाख वर्ष का आयुष्य भोग कर भगवान धर्मनाथ, भगवान अनन्तनाथ के निर्वाण के पौन पल्य कम तीन सागरोपम पश्चात्, निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान धर्मनाथ के पूर्व भव का संक्षिप्त चरित्र क्या है?

२—माता के गर्भ में भगवान धर्मनाथ का जीव, किस गति में से और वहाँ कितना आयुष्य भोग कर आया था?

३—भगवान के माता-पिता और जन्मस्थान का नाम क्या है?

४—भगवान धर्मनाथ के समकालीन वासुदेव बल्देव कौन थे?

५—भगवान की आयु कितनी थी और भगवान के अनुयाइयों की भिन्न-भिन्न संख्या क्या है?

६—भगवान की जन्म तिथि और निर्वाण तिथि बताओ?

भगवान श्री शान्तिनाथ ।

पूर्व भव ।

श्लोक :—

यंस्तौति शान्ति जिनामिन्द्र ततिर्नितान्तं
श्री जात रूपतनु कान्त रसाभिरामम् ।
शान्ति सुरीभिराभि नूतनुदन् सनुन्नः
श्री जात रूप तनुकान्त रसाभिरामम् ॥

इसी जम्बू द्वीप के अन्तर्गत दक्षिण दिशा के, मण्डन रूप भरत क्षेत्र है। उसमें रत्नपुर नाम का नगर था। वहाँ, श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। श्रीसेन की अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता नाम्नी दो रानियाँ थीं।

बड़ी रानी अभिनन्दिता ने, एक रात को स्वप्न में यह देखा कि मेरी गोद में सूर्य और चन्द्र आये हैं। अभिनन्दिता ने अपना यह शुभ स्वप्न, अपने पति महाराजा श्रीसेन को सुनाया महाराजा श्रीसेन ने, स्वप्न का यह फल बताया कि तुम्हारे दो उत्कृष्ट पुत्र होंगे।

समय पाकर महारानी अभिनन्दिता ने एक साथ दो पुत्र प्रसव किये। महाराजा श्रीसेन ने पुत्र-जन्मोत्सव करके, दोनों पुत्रों का क्रमशः इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम दिया। कुछ ही समय में दोनों कुमार बड़े हुए।

उस समय, अचल नाम के ग्राम में, धरणीजट नाम का एक ब्राह्मण रहता था। धरणीजट ब्राह्मण, था तो विद्वान, फिर भी उसने एक दासी को अपनी प्रेयसी बना रखी थी। धरणीजट के संयोग से, दासी के एक पुत्र हुआ। समय पाकर यह दासी—पुत्र बड़ा हुआ। उसका नाम कम्पिल था।

धरणीजट ब्राह्मण, नन्दिभूति और शिवभूति नाम के अपने लड़कों को पढ़ाया करता था। दासी पुत्र कम्पिल, धरणीजट और

नन्दिभूति शिवभूति के अध्यापन अध्ययन को सुन सुनकर, वेद का पारगामी हो गया। कुछ दिन पश्चात् कपिल, विदेश चला गया। घूमते फिरते कपिल, रत्नपुर नगर में आया। रत्नपुर नगर में वह, सत्यकी उपाध्याय की पाठशाला में जाया करता था। सत्यकी उपाध्याय ने, कुशाग्र बुद्धि कपिल को कुलवान जानकर, उसके साथ अपनी सत्यभामा नाम्नी कन्या का विवाह कर दिया। कपिल, सत्यभामा के साथ आनन्द पूर्वक रहने लगा। नागरिकों के लिए कपिल प्रतिष्ठापात्र बन गया था।

एक रात कपिल नाटक देखने गया। रात अधिक हो गई थी। वह जब घर आने लगा, तब वर्षा होने लगी। कपिल ने सोचा कि मार्ग में कोई आदमी तो है नहीं, फिर कपड़े क्यों भीगने दूं! यह विचार कर कपिल ने शरीर के सब वस्त्र निकाल अपनी बगल में दाब लिये और नग्न शरीर घर को आया। घर आकर वह अपनी पत्नी सत्यभामा से कहने लगा, कि—देखो, मैंने अपनी विद्या के प्रभाव से, वर्षा होने पर भी कपड़े नहीं भीगने दिये। सत्यभामा ने देखा कि पति के कपड़े तो सूखे हैं, परन्तु इनका शरीर वर्षा से भीगा हुआ है। वह समझ गई, कि पति, नग्न शरीर आये हैं और इनने द्वार पर ही कपड़े पहने हैं, लेकिन जो पुरुष राजपथ पर नग्न होकर चल सकता है, वह अवश्य ही कुलहीन है। पति को कुलहीन समझ कर, सत्यभामा

कपिल से विरक्त हो, श्रीक्षेन राजा के पास आई, और श्रीक्षेन राजा से प्रार्थना करने लगी कि—हे महाराज, दुर्दैव से मुझे कुलहीन पति मिला है, और मेरी इच्छा उसके साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की नहीं है, अतः आप मुझे इस अकुलीन पति से छुड़ाकर मेरी रक्षा करें। राजा ने, सत्यभामा की प्रार्थना स्वीकार करके, पति-पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद करा दिया। पति से छुटकारा पाकर सत्यभामा, तप करती हुई, शील की रक्षा करने लगी।

कौशाम्बी के राजा वल की कन्या का नाम श्रीकान्ता था। श्रीकान्ता ने, राजा श्रीक्षेन के पुत्र कुमार इन्दुसेन को अपने लिए वर पसन्द किया। वह, स्वयंवरा होकर इन्दुसेन के घर आई। श्रीकान्ता के साथ, एक अनन्तमतिका नाम की वेश्या भी आई। अनन्तमतिका, युवती और रूप सम्पन्ना थी, इस कारण इन्दुसेन और विन्दुसेन दोनों ही भाई उस पर मुग्ध हो गये, तथा वेश्या को अपनी अपनी बता कर आपस में लड़ने लगे। महाराजा श्रीक्षेन ने, अपने दोनों पुत्रों का आपसी कलह मिटाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु दोनों भाइयों में से कोई भी न माना। निराश हो, राजा श्रीक्षेन ने, अपनी दोनों रानियों सहित, जहरी कमल सूँघ कर, प्राण त्याग दिया। राजा और दोनों रानियों की मृत्यु हुई जान कर, शरणागत सत्यभामा भयभीत हुई कि अब मेरी रक्षा कौन करेगा! मेरा रक्षक राजा नहीं रहा,

इसलिए कंपिल मुझे सतावेगो, इस भय से सत्यभामा ने भी जहरी कमल सूँघ कर शरीर छोड़ दिया।

शुद्ध और सरल परिणामों के प्रभाव से, ये चारों जीव उत्तर कुरु क्षेत्र में, भोग प्रधान युगलियों के दो जोड़े के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ, तीन पल्योपम का आयुष्य भोग कर, विरह-रहित चारों ही जीव, प्रथम स्वर्ग में गये।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन, दोनों आपस में युद्ध कर रहे थे। क्रोध मोह आदि के वशीभूत बने हुए दोनों कुमार, किसी के भी समझाने से नहीं माने। उसी समय, विमान में बैठ कर एक विद्याधर आया। वह युद्ध करते हुए दोनों कुमार के बीच में खड़ा हो, हाथ ऊपर करके दोनों से कहने लगा कि—अरे मूर्खों! जिस वेश्या के लिए तुम दोनों भाई आपस में युद्ध कर रहे हो, वह तो तुम्हारी—पूर्व-भव की—बहन है! तुम इस बात को न समझ कर, अपनी-अपनी स्त्री बनाने के लिए क्यों लड़ रहे हो! तुम लोग मुझ से पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनो। विद्याधर की बात सुन कर दोनों ने युद्ध बन्द कर दिया और विद्याधर से पूर्व भव का वृत्तान्त सुनने लगे। विद्याधर ने पूर्व भव का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा, कि—तुम दोनों भाई और यह वेश्या, पूर्व भव में—तीनों ही-बहनें-बहनें थीं, और मैं, तुम तीनों बहनों की माता थी। तुम तीनों में से एक बहन—

जो अब वेश्या है—ने, एक वेश्या के लिए दो पुरुषों को युद्ध करते देख कर, यह अभिलाषा की, कि मेरे तप के फलस्वरूप आगामी-भव में, मुझे भी ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। यानी मैं भी ऐसी होऊँ, कि मेरे वास्ते दो पुरुष आपस में युद्ध करें। तप के बदले में इस प्रकार का फल चाहने की इच्छा के कारण, यह इस भव में वेश्या हुई है।

यह सुनकर दोनों भाइयों का मोह शान्त हुआ। वे दोनों, विद्याधर से कहने लगे कि आप पूर्व-भव में तो हमारी माता थी हीं, लेकिन इस भव में भी आपने हमारे गुरु बनकर हम पर बहुत उपकार किया है। हम आपके ऋणी हैं। ऐसा कह कर, दोनों भाई संसार से विरक्त हो गये। धर्मरूचि मुनि से दोनों भाइयों ने संयम स्वीकार कर लिया, और महान तप एवं शुभ और शुद्ध ध्यान द्वारा घातिक कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

इसी भरतक्षेत्र के मध्य में, वैताढ्यगिरि नाम का एक पर्वत है। उसकी उत्तर और दक्षिण दिशा में, विद्याधरों की श्रेणियाँ हैं। वहाँ, रथनुपुर नाम का एक नगर था और ज्वलंनजटी नाम का विद्याधर रहता था, जिसके अर्ककीर्त्ति नाम का पुत्र और स्वयंप्रभा नाम की परम सुन्दरी कन्या थी। स्वयंप्रभा का विवाह, त्रिपृष्ठ वासुदेव के साथ हुआ था।

अर्ककीर्त्ति की पत्नी का नाम, ज्योतिर्माला था। श्रीषेन राजा का जीव, ज्योतिर्माला की कोंख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ जिसका नाम, अमिततेज रखा गया। सत्यभामा का जीव भी, ज्योतिर्माला की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुतारा रखा गया। अर्ककीर्त्ति की पुत्री और त्रिपृष्ट वासुदेव की रानी स्वयंप्रभा की कोंख से, अभिनन्दिता रानी का जीव पुत्र रूप में और शिखिनन्दिता रानी का जीव पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। इन दोनों के नाम क्रमशः श्रीविजय और ज्योतिर्प्रभा दिये। समय पाकर, अर्ककीर्त्ति की कन्या सुतारा का विवाह श्रीविजय के साथ और ज्योतिर्प्रभा का विवाह अमिततेज के साथ हो गया।

त्रिपृष्ट वासुदेव का शरीरान्त होने के कुछ समय पश्चात् अचल बल्देव संसार से विरक्त हो गये और संयम स्वीकार कर लिया। तब पोतनपुर के राजा श्रीविजय हुए। उधर रथनुपुर का राज्य अमिततेज को सौंप कर, ज्वलनजटी और अर्ककीर्ति ने भी दीक्षा ले ली।

एक समय, महाराजा अमिततेज, अपनी बहन सुतारा से मिलने के लिए पोतनपुर आये। उस समय, पोतनपुर नगर में और विशेषतः पोतनपुर की राज सभा में, वड़ा ही आनन्दोत्सव हो रहा था। महाराजा श्रीविजय द्वारा स्वागत सत्कार हो जाने

के पश्चात्, महाराजा अमिततेज ने उनसे इस उत्सव का कारण पूछा। महाराजा अमिततेज के प्रश्न के उत्तर में, महाराजा श्रीविजय कहने लगे, कि 'आज से आठ दिन पहले, एक भविष्यवाणी करने वाला आया था। मैंने उस भविष्यभाषी से पूछा, कि तुम किस लिए आये हो? तुम्हारा आने का उद्देश्य कुछ याचना करना है, या किसी प्रकार का भविष्य बताने आये हो? उस भविष्यवक्ता ने कहा कि मैं याचक तो हूँ ही, लेकिन इस समय याचना करने नहीं आया हूँ, किन्तु न कहने योग्य भविष्य की एक बात कहने के लिए आया हूँ, जिससे धर्मकृत्यादि द्वारा दुर्भविष्य का प्रतिकार किया जा सके। मेरे पूछने पर उसने कहा, कि—'आज के सातवें दिन, पोतनपुर के राजा पर महाघोर विद्युत्पात होगा।' यह कटु भविष्य सुन कर, मेरे प्रधान मन्त्री ने उस भविष्यभाषी से कहा, कि—जब पोतनपुर के राजा के ऊपर बिजली गिरेगी, उस समय तेरे पर क्या गिरेगा? उस भविष्य-भाषी ने, प्रधानमन्त्री से कहा—मन्त्रीवर, आप मेरे पर क्यों रुष्ट होते हैं? मैं तो शास्त्र में जैसा देखता हूँ, वैसा कहता हूँ। फिर भी आप पूछते हैं—इसलिए मैं आपसे कहता हूँ, कि उस समय मेरे ऊपर वस्त्राभूषण, मणिमाणिक और स्वर्णादि-द्रव्य की वृष्टि होगी। भविष्यवक्ता की बात सुनकर, मैंने प्रधानमन्त्री से कहा, कि—मन्त्री, इन पर कोप न करो, ये तो यथार्थ भविष्य

कहने के कारण उपकारी ही हैं। भविष्यवक्ता की बात सुनकर, मेरे मन्त्रीगण अपने राजा की रक्षा के लिए उपाय सोचने लगे। कोई कहने लगा कि समुद्र में विद्युत्पात नहीं होता, इसलिए महाराजा को समुद्र में रखा जावे। कोई, पर्वत की गुफा में रहने की सम्मति देने लगा। कोई यह कहने लगा कि भावी नहीं टलती, इसलिए कर्मनाश करने को तप करना चाहिए; क्योंकि तप का प्रभाव बहुत होता है।

इस तरह होते होते एक मन्त्री ने कहा कि इस भविष्यवक्ता की भविष्य वाणी के अनुसार पोतनपुर के राजा पर विद्युत्पात होगा, नकि श्रीविजय पर। इसलिए पोतनपुर का राजा किसी दूसरे को बना दिया जावे और तब तक महाराजा श्रीविजय, धर्मध्यान करते रहें। ऐसा करने से, अहित टल जावेगा। यह सुनकर उस भविष्यवक्ता ने ऐसा कहने वाले मन्त्री से कहा, कि—मेरे निमित्त ज्ञान से आपका मतिज्ञान निर्मल है। इसलिए जैसा आप कहते हैं। ऐसा ही करना ठीक है। तब मैंने कहा कि इस योजना के अनुसार तो जिसे भी राजा बनाया जावेगा, वह निरपराधी होने पर भी व्यर्थ में मारा जावेगा। ऐसा होना तो कदापि भी उचित नहीं है। क्योंकि चींटी से लगाकर, इन्द्र तक को अपना जीवन प्यारा है। राजा का कर्त्तव्य निर्बल की रक्षा करना है, और इसीलिए मैं हाथ में तलवार लेकर बैठा हूँ।

फिर मेरी रक्षा के लिए किसी निरपराधी की हत्या होने देना मेरे लिए श्रेय कैसे हो सकता है। मेरी बात सुन कर, वह मन्त्री कहने लगा कि, हमें तो आपका भावी अनिष्ट भी दूर करना है, और किसी की हत्या भी नहीं करना है। अतः वैश्रवण यक्ष की प्रतिमा का राज्याभिषेक करके, सात दिन के लिए उसे यहाँ का राजा बना दिया जावे। हम लोग भी उस मूर्त्ति की सेवा सात दिन तक उसी प्रकार करें, जिस प्रकार आपकी करते हैं।'

'मन्त्री की यह बात मुझे भी जँच गई। यक्ष-प्रतिमा को राज्याभिषिक्त कर, मैं पोषधशाला में गया। वहाँ मैं पोषध करके बैठ गया। सातवें दिन, मध्यान्ह समय सहसा गर्ज घुमड़ कर मेघ चढ़ आया और थोड़ी ही देर में यक्ष-प्रतिमा पर भयंकर विद्युत्पात हुआ। यक्ष की प्रतिमा के टुकड़े टुकड़े हो गये। यह दुर्घटना देख कर, उस भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी सत्य हुई और उसकी भविष्यवाणी के फलस्वरूप राजा की रक्षा हो सकी यह विचार अन्तःपुर एवं प्रधान की ओर से उस भविष्यवक्ता पर स्वर्ण रत्न और वस्त्राभूषण आदि की वृष्टि हुई। मैंने भी उस भविष्यवक्ता को, पद्मिनीखण्ड नाम का नगर प्रदान किया और सम्मान सहित उसे विदा किया। यक्ष की जो मूर्त्ति विद्युत्पात से खण्ड खण्ड हो गई थी, उसके स्थान पर मैंने रत्न की मूर्त्ति बनवा दी।'

यह वृत्तान्त सुनाकर महाराजा श्रीविजय, महाराजा अमिततेज से कहने लगे कि 'आप सर्वत्र जो उत्सव देख रहे हैं, वह मेरा अनिष्ट टल गया और मैं सकुशल बच गया, इस खुशी के कारण हो रहा है।' महाराजा श्रीविजय से यह वृत्तान्त सुनकर, महाराजा अमिततेज को भी बहुत प्रसन्नता हुई। महाराजा अमिततेज, अपनी बहन सुतारा से मिले। वस्त्राभूषण आदि से बहन का सत्कार करके महाराजा अमिततेज अपने स्थान को गये।

सत्यभामा के विरह से दुःखित कपिल ब्राह्मण, भव-भ्रमण करता हुआ, विद्याधरों की श्रेणी में, अश्विनीघोष नाम का राजा हुआ था। एक समय महारानी सुतारा सहित महाराजा श्रीविजय वन-क्रीड़ा करने गये। अश्विनीघोष विद्याधर ने, वन में सुतारा को देखा। पूर्वभव के स्नेह की प्रेरणा से अश्विनीघोष ने, प्रतारिणी विद्या की सहायता से, सुतारा को हरण कर लिया। महाराजा श्रीविजय और महाराजा अमिततेज ने, अश्विनीघोष से युद्ध किया और उसे परास्त भी कर दिया। श्रीविजय और अमिततेज, अश्विनीघोष को अपना बन्दी बनाना चाहते थे, इसलिए इनने महाज्वाला विद्या को, अश्विनीघोष को पकड़ लाने की आज्ञा दी।

महाज्वाला, अश्विनीघोष को पकड़ने के लिए दौड़ी। अश्विनीघोष भागा। वह, वैताढ्य पर्वत छोड़ कर, भरतार्द्ध में

आया। भरतार्द्ध में, सीमान्तगिरि पर, अचल बलदेव मुनि को घातिक कर्म नष्ट हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। वहाँ देवता लोग, केवलज्ञान महोत्सव मना रहे थे। अश्विनीघोष भी, भागता हुआ उसी महोत्सव-स्थान पर बैठ गया, इससे महाज्वाला शक्ति वापस लौट गई। महाज्वाला शक्ति ने, सब वृत्तान्त महाराजा अमिततेज को सुनाया। महाज्वाला शक्ति से अचल मुनि को केवलज्ञान हुआ जानकर महाराजा अमिततेज और महाराजा श्रीविजय आदि, उन्हें वन्दन करने आये। वहाँ केवली भगवान के उपदेश से, ये वैर-रहित हुए और अपने पूर्व भव का सब वृत्तान्त जानकर इन्होंने श्रावकव्रत स्वीकार किये। अश्विनीघोष विद्याधर ने तो भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर संयम स्वीकार किया।

महाराजा अमिततेज और महाराजा श्रीविजय, दीर्घकाल तक श्रावकव्रत पालते रहे। एकबार ये दोनों, मेरु पर्वत के नन्दनवन में गये। वहाँ इन्हें विपुलमति और महामति नाम के दो मुनियों के दर्शन हुए। इन दोनों ने मुनि को वन्दन करके मुनि से अपना आयुष्य पूछा। ज्ञानी मुनियों ने उत्तर दिया कि तुम दोनों का आयुष्य केवल २६ दिन शेष है। यह सुनकर दोनों राजा दुःख करते हुए कहने लगे, कि—हमने, निद्रालु मूर्छित, मतवाले, बालक और अरण्य में ऊगे हुए पुष्पवृक्ष की तरह अपना मनुष्य

जन्म निरर्थक खो दिया। हमने आत्मकल्याण का कोई उचित उपाय नहीं किया। दोनों राजा इस प्रकार खेद करने लगे। तब मुनि उनसे कहने लगे कि इस प्रकार खेद करने से कोई लाभ न होगा, जितनी आयु शेष है, उसमें तुम लोग आत्मा का कल्याण, व्रत स्वीकार करके भली प्रकार कर सकते हो। यह सुन कर दोनों ही राजा, अपनी अपनी राजधानी में आये और अपना अपना राज्य अपने अपने पुत्र को सौंप कर, अमिततेज और श्रीविजय ने अभिनन्दन मुनि के पास चारित्र ग्रहण किया।

चारित्र लेकर दोनों ने पादोपगमन संथारा (अनशन) प्रारम्भ कर दिया। अनशन काल में, श्रीविजय को अपने पिता त्रिपृष्ठ वासुदेव की ऋद्धि का स्मरण हुआ, इस कारण श्रीविजय ने अपने तप के फल स्वरूप, वैसी ही ऋद्धि मिलने की इच्छा की। अमिततेज ने, ऐसी कोई इच्छा नहीं की। अन्त में दोनों ने समाधिपूर्वक शरीर त्याग किया और प्राणत कल्प में, सुस्थितावृत और नन्दितावृत विमानों के स्वामी मणिचूल और दिव्यचूल नाम के देव हुए। वहाँ दोनों ने, वीस सागरोपम तक दिव्य-सुखों को भोगा।

इसी जम्बू द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र को सुशोभित करने वाली रमणीय विजय में, शुभा नाम की नगरी है। वहाँ, स्तिमित-सागर नाम के राजा राज्य करते थे। उनके अन्तःपुर में अप्स-

राओं को भी लज्जित करनेवाली वसुन्धरा और अनुद्धरा नाम की सुन्दरी रानियाँ थीं।

नन्दितावर्त विमान का आयुष्य भोग कर,श्रीविजय का जीव, महारानी वसुन्धरा के गर्भ में आया। शयन किये हुए महारानी वसुन्धरा ने, हस्ति, वृषभ,चन्द्र और पद्मसरोवर ये चार महास्वप्न देखे। महास्वप्न देख कर महारानी वसुन्धरा जाग उठीं। उन्होंने अपने स्वप्न पति को सुनाये। महाराजा स्तिमितसागर ने रानी वसुन्धरा को स्वप्न का यह फल बताया कि तुम्हारी कोख से बलभद्र पुत्र जन्म लेगा। गर्भकाल समाप्त होने पर, महारानी वसुन्धरा ने, एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। महाराजा स्तिमित-सागर ने, पुत्र जन्म महोत्सव मना कर, बालक का नाम अपरा-जित दिया।

कुछ समय पश्चात्, सुस्थितावत विमान का आयुष्य भोग कर अमिततेज का जीव, महारानी अनुद्धरा के गर्भ में आया। महारानी अनुद्धरा ने वासुदेव के जन्म-सूचक सात महास्वप्न देखे। अनुद्धरा के देखे हुए स्वप्नोंको सुन कर, महाराजा स्तिमित-सागर ने अनुद्धरा महारानी से कहा, कि तुम वासुदेव पुत्र प्रसव करोगी।

समय पर महारानी अनुद्धरा ने, अनुपम पुत्र को जन्म दिया। महाराजा स्तिमितसागर ने पुत्र जन्मोत्सव मना कर, बालक का

अनन्तवीर्य नाम दिया।

अनन्तवीर्य. युवक हुए। संसार से उपरति होने के कारण, महाराजा स्तिमितसागर ने, अपराजित कुमार की सम्मति से राज्य का भार अनन्तवीर्य को सौंप दिया और स्वयं ने दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण किया। राज्य करते हुए महाराजा अनन्त-वीर्य की मैत्री, एक विद्याधर से हो गई। उस विद्याधर ने महा-राजा अनन्तवीर्य को एक महाविद्या बताई और उसका साधन करने की विधि भी बताई। महाविद्या तथा उसे साधने की विधि बता कर, विद्याधर चला गया।

अनन्तवीर्य के यहाँ, बर्बरी और किराती नाम की दो दासियाँ थीं। ये दोनों दासियाँ नाट्यगानकला में कुशल थीं। नारद द्वारा इन दासियों की प्रशंसा सुनकर, दमितारि प्रतिवासुदेव ने अनन्त-वीर्य के यहाँ अपना दूत भेजकर दोनों दासियें भेजने के लिए आज्ञा की। वासुदेव अनन्तवीर्य ने दमतारि के दूत को तो यह कहकर विदा कर दिया, कि मैं विचार कर दोनों दासियों को भेज दूँगा, लेकिन हृदय में दमतारि के प्रति बहुत क्रोध हुआ। वासुदेव अनन्तवीर्य, इस विषय में अपराजित बल्देव से गुप्त रूप से मन्त्रणा करने लगे। विचार करते हुए वासुदेव ने बल्देव से कहा, कि आकाशगमनादि विद्या सिद्ध कर लेने के कारण ही दमतारि अपने पर शासन करता है; अतः अपने को अपना विद्या-

धर मित्र जो विद्या दे गया है, अपन उसे क्यों न साधलें ! दोनों भाई इस प्रकार विचार कर रहे थे, कि इतने ही में प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ प्रकट होकर इन दोनों भाइयों से कहने लगीं, कि—हे महाभुज, तुम जिन्हें साधने का विचार कर रहे हो, वे विद्याएँ हम स्वयं ही आपके सन्मुख उपस्थित हैं। आपने, पूर्व भव में हमें साध रखा है, इस कारण अब पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। आप आज्ञा दीजिये, हम आपके शरीर में प्रवेश करें। यह सुन कर वासुदेव बल्देव ने उन विद्याओं की गंध पुष्प आदि से पूजा करके उनकी बात के उत्तर में एवमस्तु कहा ! यह सुनकर वे विद्याएँ, तत्काल ही दोनों के शरीर में उसी प्रकार प्रवेश कर गईं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं।

दमतारि का दूत, अनन्तवीर्य के पास फिर लौट कर आया। वह, अनन्तवीर्य से कहने लगा, कि आप लोग स्वामी की आज्ञा की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ! दासियों के बदले में आप दोनों अपने पर क्यों आपत्ति बुला रहे हो ! दूत की बात सुन कर, अनन्तवीर्य को बहुत क्रोध हुआ, लेकिन क्रोध को हृदय में ही दबा कर अनन्तवीर्य ने दूत से कहा कि—दमतारि बड़ी-बड़ी बहुमूल्य भेंट के योग्य है, फिर भी यदि वह दासियों से ही सन्तुष्ट होता है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं, तुम दासियों को ले जा सकते हो। दूत से ऐसा कह कर, दोनों भाइयों ने आपस में

विचार किया, कि दमतारि कैसा है, यह देखना चाहिए। इस प्रकार विचार कर दोनों भाई, विद्या की सहायता से दासियों का रूप बनाकर, दूत के पास गये और दमतारि से कहने लगे कि अनन्तवीर्य महाराज ने हमें आपके पास दमतारि के पास ले जाने के लिए भेजा है। दूत, बहुत प्रसन्न हुआ और दोनों को लेकर दमतारि के पास आया। उसने,दमतारि से कहा कि आपकी आज्ञानुसार, दोनों दासियाँ हाजिर हैं।

दमतारि ने, दासी-वेश धारी अनन्तवीर्य और अपराजित को, नाट्यगान करने की आज्ञा दी। दोनों भाई, समस्त कलाओं में कुशल ही थे। दोनों ने, नाट्यगानकला का खूब प्रदर्शन किया। दमतारि ने प्रसन्न होकर दोनों कृत्रिम दासियों को अपनी बड़ी पुत्री कनकश्री के पास—उसे नाट्यगानकला सिखाने के लिए भेज दिया।

दासी वेशधारी अपराजित और अनन्तवीर्य ने, थोड़े ही समय में, कनकश्री को नाट्यगानकला सिखा दी। शिक्षा देते समय अपराजित, बारंबार अनन्तवीर्य के रूप गुण और शौर्य की प्रशंसा करते थे। एक दिन, कनकश्री ने दासीवेशधारी अपराजित से पूछा, कि तुम बारम्बार जिसका गुणगान किया करती हो, वह पुरुष कौन है ? छद्मवेशधारी अपराजित ने कनकश्री को अनन्तवीर्य का प्रशंसापूर्ण परिचय सुनाया। अनन्तवीर्य की

प्रशंसा सुनकर, कनकश्री के हृदय में, अनन्तवीर्य का दर्शन करने की बहुत उत्कण्ठा हुई। वह विचारने लगी कि ऐसे महापुरुष का दर्शन मुझे किस प्रकार हो सकेगा! आकृति द्वारा कनकश्री के मन के भावों को जानकर, अपराजित कनकश्री से कहने लगे—राजकुमारी, तुम अनन्तवीर्य का परिचय सुनकर, कुछ पीड़ित-सी जान पड़ती हो, अतः क्या तुम महाभुज अनन्तवीर्य को देखना चाहती हो? यह सुनकर, दीनता दिखाती हुई कनकश्री ने कहा कि यद्यपि मेरी इच्छा तो यही है, लेकिन मेरी यह इच्छा चन्द्र को हाथ से पकड़ने के समान असम्भव-सी दिखाई देती है। दासी रूपधारी अपराजित ने कहा, कि—यदि तुम अनन्तवीर्य को देखने के लिए इतनी उत्कण्ठित हो, तो मैं अनन्तवीर्य को यहाँ तुम्हारे सामने ला दूँगी। यह सुनकर कनकश्री कहने लगी कि—क्या तुमसे ऐसा होना सम्भव है? यदि हाँ, तो कृपा करके अभी ही उनके दर्शन कराइये। मुझे, अपना भाग्य प्रबल जान पड़ता है, इसीसे तुम्हारी सहायता का संयोग मिला है। इस प्रकार की बात हो ही रही थी कि अनन्तवीर्य ने अपना छद्मवेश त्याग दिया और वास्तविक रूप धारण कर लिया। तब अपराजित ने भी अपना कपटरूप त्याग अनन्तवीर्य की ओर संकेत करके कनकश्री से कहा—सुभगे, मैं जिनकी प्रशंसा करता था, वे मेरे छोटे भाई अनन्तवीर्य यही हैं। मैंने

इनके जितने गुण कहे थे, ये उनसे अधिक गुणवाले हैं, यह बात तू इनको देखकर सहज ही जान सकती है।

अनन्तवीर्य को देखकर, कनकश्री बहुत ही विस्मित लज्जित एवं आनन्दित हुई। अपराजित को अपने श्वसुर तुल्य मान कनकश्री, उत्तरीय वस्त्र द्वारा लज्जा करके खड़ी रही। कुछ देर पश्चात् मान और लज्जा को त्याग कनकश्री, अनन्तवीर्य से प्रार्थना करने लगी, कि सहसा आपका दर्शन मेरे लिए असम्भव था, परन्तु भाग्य की अनुकूलता से सम्भव हो गया। अब आप जिस प्रकार मेरे नाट्याचार्य बने थे, उसी प्रकार पति बनकर मुझे अपनी शरण में स्थान दीजिये; अर्थात् मेरा पाणिग्रहण कीजिये। कनकश्री की प्रार्थना के उत्तर में, अनन्तवीर्य ने कहा कि—हे मुग्धे, यदि तेरी इच्छा यही है, तो मेरी नगरी को चल। कनकश्री कहने लगी—नाथ, यद्यपि मेरे प्राणों पर आप ही का राज्य है, मैं तो आपकी दासी हूँ और आपकी आज्ञा मानना मेरा कर्त्तव्य है, परन्तु मेरा पिता विद्या के बल से दुर्मद बना हुआ है और दुष्टस्वभाववाला है, अतः सम्भव है कि वह आपके लिए कोई अनर्थ कर डाले, मुझे यही भय है। वैसे तो आप बलवान हैं, लेकिन इस समय अकेले एवं शस्त्रास्त्र रहित हैं। वासुदेव ने उत्तर दिया—हे कातरे, तुम्हें किसी भी प्रकार के भय से भीत होने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे पिता, मेरा कुछ नहीं

बिगाड़ सकते। तुम निर्भय होकर मेरे साथ चलो।

अनन्तवीर्य की आज्ञा मानकर, कनकश्री उनके साथ हो ली। तब अनन्तवीर्य ने ऊँचे हाथ करके उच्चस्वर में इस प्रकार घोषणा की, कि—हे पुराध्यक्ष, सेनापति, राजकुमारो, मन्त्रियो, सामन्तो और सुभटो! अपराजित भ्राता से सुशोभित मैं अनन्तवीर्य, राजा दमतारि की पुत्री कनकश्री को अपने घर लिये जाता हूँ। मेरे जाने के पश्चात् तुम लोग अपवाद न बोलो इसलिए बार-बार घोषणा करता हूँ। तुम लोगों की इच्छा हो तो मेरे सामने आओ और मेरी भुजा का बल देखो! इस प्रकार पुनः पुनः घोषणा करके अनन्तवीर्य वासुदेव, अपने भ्राता अपराजित एवं अपनी पत्नी कनकश्री सहित वैक्रिय विमान में बैठ, आकाश मार्ग से चले। अनन्तवीर्य की घोषणा सुन एवं कनकश्री सहित उन्हें जाते देख, दमतारि बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने अपने सुभटों को, कनकश्री सहित अनन्तवीर्य को पकड़ लाने की आज्ञा दी, परन्तु आकाशमार्ग से जाते हुए अनन्तवीर्य का सुभट क्या कर सकते थे। अन्त में दमतारि स्वयं अनन्तवीर्य से युद्ध करने के लिए गया। निःशस्त्र वासुदेव और बल्देव को देवताओं ने अस्त्रशस्त्र दिये। दमतारि से वासुदेव बल्देव का घोर युद्ध हुआ। परिणामतः वासुदेव ने सुदर्शनचक्र द्वारा दमतारि को मार डाला। दमतारि को मरा जान, देवताओं ने, वासुदेव बल्देव पर पुष्पवृष्टि

की और यह घोषणा की, कि ये महाबाहु अनन्तवीर्य, इस विजयार्द्ध के वासुदेव हैं, अतः समस्त राजा एवं सामन्त इनकी शरण ग्रहण करो। दिव्य घोषणा को मानकर, समस्त राजा सामन्तों ने अनन्तवीर्य के आगे अपना मस्तक झुकाया और अनन्तवीर्य की शरण ली।

सब विद्याधरों एवं राजाओं सहित अनन्तवीर्य, भ्राता तथा पत्नी को लिए हुए विमान द्वारा चले। कनकगिरि (मेरु) के समीप जब विमान आया, तब विद्याधरों के कहने से अनन्तवीर्य, अपने साथ के लोगों सहित पर्वत पर उतर पड़े और पर्वत की शोभा देखने लगे। उस समय वहाँ पर कीर्त्तिधर मुनि के घातिक-कर्म क्षय हुए थे, और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था; इसलिए देवता लोग केवलज्ञान-महोत्सव मनाने के लिए आये। अनन्त-वीर्य वासुदेव को यह जान कर बहुत हर्ष हुआ। वे, सब साथियों सहित केवली भगवान की वन्दना करने आये। वन्दन एवं वाणी श्रवण के पश्चात् कनकश्री ने, अपने मृत पिता बन्धु आदि के सम्बन्ध में केवली भगवान से प्रश्न किया। भगवान ने, उनके पूर्व भव का सब वृत्तान्त वर्णन किया, जिसे सुनकर कनकश्री को संसार से वैराग्य हो गया। कनकश्री ने अपने पति एवं जेठ से आत्मकल्याण के लिए आज्ञा माँगी। वासुदेव बल्देव ने, विस्मय भरे नेत्रों से कनकश्री की ओर देख, कनकश्री से कहा-

कि तुम्हारा कार्य निर्विघ्न हो, यही हमारी शुभकामना है, परन्तु हमारी इच्छा है कि तुम शुभानगरी चलो, वहाँ जब भगवान पधारें तब इनके समीप दीक्षा लेना। कनकश्री ने, यह स्वीकार किया और अपने पति आदि के साथ शुभानगरी आई।

शुभानगरी पहुँच कर, राजाओं तथा विद्याधरों ने अनन्तवीर्य को अर्द्धचक्री पद का अभिषेक किया। कालान्तर से वहाँ केवली भगवान कीर्त्तिधर भी पधार गये। वासुदेव बल्देव उन्हें वन्दन करने गये। कनकश्री ने पति आदि से आज्ञा प्राप्त करके भगवान के पास से संयम स्वीकार किया। अनेक प्रकार के तप द्वारा कर्मों को नाश कर, कनकश्री, सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

सम्यक्त्वधारी वासुदेव बल्देव, राज्य का उपभोग करने लगे। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर, अनन्तवीर्य वासुदेव, प्रथम नरक में गये। स्तिमितसागर राजा, चमरेन्द्र हुए थे। उन्होंने, अनन्तवीर्य वासुदेव को मिलनेवाली वेदना शान्त की।

अनन्तवीर्य वासुदेव के शोक से वैराग्यवन्त होकर, अपराजित बल्देव ने, अपने पुत्र को राज्य देकर राजपरिवार के सोलह हजार पुरुषों सहित दीक्षा ले ली। परिषह सहन एवं तप के द्वारा आत्मा को पवित्र बना अपराजित ने अनशन कर लिया और बारहवें कल्प में अच्युतेन्द्र हुए।

नरक से निकल कर, अनन्तवीर्य का जीव, वैताढ्य पर्वत पर, मेघनाद नाम से विद्याधरों का ऋद्धिमान राजा हुआ। एक समय, मेघनाद, वैताढ्य पर्वत पर आये। वहाँ, मुनि के दर्शन करने को अच्युतेन्द्र भी पधारे थे। अच्युतेन्द्र ने, मेघनाद को प्रतिबोध दिया, जिससे मेघनाद ने दीक्षा ग्रहण की और दीर्घकाल तक तप करने के पश्चात् अनशन द्वारा शरीर त्याग, बारहवें कल्प में सामानिक इन्द्र पद प्राप्त किया।

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह में, सीता महानदी के तट पर, मंगलावती विजय है। वहाँ, रत्नसंचया नाम की नगरी थी। और क्षेमंकर नाम के राजा राज्य करते थे, जिनकी रानी का नाम रत्नमाला था।

अपराजित बलदेव का जीव, बारहवें देवलोक के अच्युतेन्द्र का आयुष्य भोग कर, रत्नमाला के गर्भ में आया। रत्नमाला ने, रात्रि के शेष भाग में, चौदह महास्वप्न देखे और पन्द्रहवाँ स्वप्न, वज्र का देखा। रत्नमाला जागृत हुई। उन्होंने, सब स्वप्न अपने पति को सुनाये। महाराजा क्षेमंकर ने कहा कि स्वप्नों के फल को देखते हुए, तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र होगा।

गर्भकाल की समाप्ति पर, महारानी रत्नमाला ने, उत्तम पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्मोत्सव मनाकर महाराजा क्षेमंकर ने, बालक का नाम वज्रायुध रखा। बालवय समाप्त करके जब वज्रा-

युध युवक हुए, तब उनका विवाह, लक्ष्मीवती नाम की कन्या से हुआ। कुछ काल पश्चात्, अच्युत देवलोक का आयुष्य समाप्त करके अनन्तवीर्य का जीव, लक्ष्मीवती के गर्भ में आया और समय पर, पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। वज्रायुध के इस बालक का नाम सहस्रायुध रखा गया।

एक बार क्षेमंकर राजा, अपने पुत्र पौत्र और मन्त्री सामन्त सहित सभा में बैठे थे। उस समय, ईशान्य कल्प में देव-सभा स्थित ईशानेन्द्र ने कहा, कि पृथ्वी पर, वज्रायुध जैसा दृढ़ सम्यक्त्वधारी कोई भी नहीं है। वहाँ उपस्थित चित्रचूल देव को, ईशानेन्द्र की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। मिथ्यात्व की की प्रेरणा से वह, महाराजा क्षेमंकर की सभा में आया और कहने लगा, कि संसार में, पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक लोक परलोक आदि कुछ भी नहीं है। लोग, आस्तिकता की बुद्धि रखकर, अनावश्यक कष्ट पाते हैं। देव की बात सुनकर, वज्रायुध ने उस से कहा, कि—हे देव, तुम प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध ऐसा क्यों कह रहे हो! तुम अपने ज्ञान द्वारा अपना पूर्वभव ही क्यों नहीं देखते! यदि पुण्य का फल न होता, तो तुम मनुष्य से देव कैसे होते! इसलिए लोक परलोक और पुण्य पाप आदि सब कुछ हैं। इस प्रकार युक्ति द्वारा वज्रायुध ने, उस देव को प्रतिबोध दिया। देव, प्रसन्न होकर कहने लगा, कि—जिनके पिता

तीर्थंकर हैं, उनकी बुद्धि का क्या कहना है! अब कृपा करके मुझे सम्यक्त्व दीजिये तथा बदले में मुझसे कुछ माँगिये। वज्रायुध ने, उसे समकित दी और उससे यही माँगा कि तुम समकित पर दृढ़ रहना। देव ने कहा कि ऐसा करने में तो मुझे ही लाभ है, इसलिए कुछ और माँगो। वज्रायुध ने कहा कि बस जो माँगना था, वह माँग लिया। तब चित्रचूल देव बहुत प्रसन्न हुआ और वज्रायुध को अनेक दिव्य अलंकार देकर, अपने स्थान को गया। चित्रचूल देव ने, वापस जाकर ईशानेन्द्र से प्रार्थना की, कि वज्रायुध वास्तव में वैसे ही हैं, जैसा कि आपने उनकी प्रशंसा करते हुए बताया था। तब ईशानेन्द्र यह कहकर वज्रायुध की प्रशंसा करने लगे, कि इसी जम्बुद्वीप के भरतक्षेत्र में वे पाँचवें चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थङ्कर होंगे।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर, महाराजा क्षेमंकर ने वज्रायुध को राज्य सौंप कर संयम स्वीकार कर लिया। विविध प्रकार के अभिग्रह एवं दुस्तर तप करने से, क्षेमंकर स्वामी के घनघातिक कर्मक्षय हो गये और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तब इन्द्र देव, और महाराजा वज्रायुध ने, केवलज्ञान की महिमा की तथा भगवान की वाणी श्रवण करके अपने स्थान को लौट आये।

महाराजा वज्रायुध को अस्त्र-शाला के अधिकारी ने यह बधाई दी कि अस्त्रशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। वज्रायुध

ने, विधिपूर्वक चक्ररत्न की पूजा की। इसी प्रकार अन्य तेरह रत्न भी प्रकट हुए। चक्र के पीछे चल कर महाराजा वज्रायुध ने, समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त की और छहों खण्ड साध उस विजय के चक्रवर्ती हुए।

एक समय, चक्रवर्ती वज्रायुध सभा में बैठे थे। उस समय एक विद्याधर भागता हुआ आया और उसने चक्री की शरण ग्रहण की। उस शरणागत विद्याधर के पीछे ही एक विद्याधरी और एक विद्याधर भी आया। ये दोनों, चक्रवर्ती वज्रायुध से कहने लगे, कि आप इस दुष्टात्मा को छोड़ दीजिये, हम दोनों इसका वध करने आये हैं। महाराज वज्रायुध, त्रिकालदर्शी एवं अवधिज्ञानी थे, इसलिए इन्होंने उन तीनों को पूर्व भव एवं भावी भव का समस्त वृत्तान्त सुना कर, निर्वैर होने का उपदेश दिया, जिससे वे तीनों निर्वैर हुए। पश्चात् वे हाथ जोड़ कर, कहने लगे कि यदि आपके ये वचन हमें सुनने को न मिलते तो हम नरक में ही स्थान पाते। अब हम भगवान क्षेमंकर की शरण में जाना चाहते हैं, अतः आप हमें आज्ञा दीजिये। चक्री ने, उन्हें आज्ञा दी, और उन्होंने, क्षेमंकर भगवान से संयम स्वीकार करके आत्मकल्याण किया।

कुछ काल पश्चात् श्री क्षेमंकर भगवान, रत्नसंचयानगरी में पधारे। चक्रवर्ती,भगवान को वन्दन करने गये। भगवान का

उपदेश श्रवण करके चक्रवर्ती ने भगवान से यह प्रार्थना की. कि-हे प्रभो, मैं कुमार सहस्त्रायुध को राज्य सौंप कर पुनः आपकी सेवा में उपस्थित होऊँ, तब तक आप यहीं विराजे रहने की कृपा करिये। भगवान से यह प्रार्थना करके, वज्रायुध चक्रवर्ती नगरी में आये। वहाँ, उन्होंने, सहस्त्रायुध को राज्याभिषेक किया। पश्चात् भगवान की सेवा में उपस्थित होकर चार हजार राजाओं चार हजार अपनी रानियों और सात सौ अपने पुत्रों सहित वज्रायुध चक्रवर्ती ने संयम स्वीकार किया।

वज्रायुध मुनि, अनेक प्रकार के तप करते हुए, सिद्ध पर्वत पर आये। वहाँ वे, वार्षिकी—प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय अश्वग्रीव राजा के दो पुत्र—जो भवभ्रमण करते हुए असुर-कुमार देव हुए थे, वे-उधर आ निकले। वज्रायुध मुनि को देख कर, उन्हें वज्रायुध मुनि के प्रति अमिततेज के भव का वैर हो आया। वे, उपद्रव करने लगे और अनेक प्रकार के रूप बनाकर वज्रायुध मुनि को उपसर्ग देने लगे। इतने ही में, रम्भा तिलोत्तमा आदि इन्द्र की अप्सराएँ, अर्हन्त प्रभु को वन्दन करने के लिए जाती हुई उधर से निकलीं। देवों द्वारा वज्रायुध मुनि को उपसर्ग होता देख कर, उन्होंने उन देवों से कहा, कि—अरे पापात्माओ! तुम यह क्या दुष्कर्म कर रहे हो! अप्सराओं के यह कहते ही, वे देव भाग गये। अप्सराएँ, आगे गईं और

४

वज्रायुध मुनि, प्रतिमा पाल कर जन पद में विचरने लगे।

महाराजा सहस्रायुध, राज्य कर रहे थे। पुण्य-योग से उनके नगर में, पिहिताश्रव गणधर पधारे। गणधर महाराज की वाणी श्रवण करने से, सहस्रायुध को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने, संयम स्वीकार कर लिया और जनपद में विचरने लगे। योगायोग से वज्रायुध और सहस्रायुध दोनों मुनि, एक स्थान पर मिल गये। दोनों मुनि, साथ ही विचरने लगे। अन्त में, इषत्प्राग्भार पर्वत पर दोनों मुनियों ने अनशन कर लिया और शरीर त्याग, तीसरे ग्रैवेयक में, पच्चीस सागर की आयुवाले महर्द्धिक देव हो, अनुपम सुख अनुभव करने लगे।

इसी जम्बू द्वीप के पूर्व महाविदेह में, पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत, पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी। वहाँ घनरथ नाम के महाराजा राज्य करते थे। महाराजा घनरथ के प्रियमति और मनोरमा नाम की दो रानियाँ थीं। तीसरे ग्रैवेयक की आयु समाप्त करके वज्रायुध का जीव, महारानी प्रियमति के उदर में आया, तब महारानी ने स्वप्न में, गर्जते बरसते मेघ के साथ विद्यु-प्रकाश देखा। महारानी प्रियमति ने, अपना स्वप्न महाराजा मेघरथ को सुनाया। उन्होंने स्वप्न सुन कर कहा, कि तुम्हारे गर्भ से, मेघ की तरह पृथ्वी का संताप हरने वाला पुत्र होगा।

महारानी प्रियमति की ही तरह महारानी मनोरमा ने भी, ध्वजा

पताका सहित रत्न की घूंघरियों वाला रथ, स्वप्न में देखा। महा-रानी मनोरमा के गर्भ में, सहस्रायुध का जीव, तीसरे ग्रैवेयक का आयुष्य समाप्त करके आया था।

समय पाकर दोनों रानियों ने, एक-एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। महाराजा ने, पुत्र-जन्मोत्सव मनाकर, दोनों पुत्र का क्रमशः मेघरथ और दृढ़रथ नाम दिया। दोनों पुत्र बड़े ए, तब अनेक राजकन्याओं के साथ दोनों का विवाह हुआ।

एक समय महाराजा घनरथ—जो भावी तीर्थङ्कर थे—पुत्र-पौत्रादि परिवार सहित बैठे थे। उसी समय वहाँ पर सुसेना नाम की गणिका, अपने हाथ में एक मुर्गा लेकर आई और कहने लगी कि—मेरा कुक्कुट अपनी जाति में मुकुट रत्न के समान ऊँचा है। इसे कोई दूसरा कुक्कुट नहीं जीत सकता। यदि इस मेरे मुर्गे को कोई दूसरा मुर्गा जीत ले, तो मैं एक लक्ष स्वर्ण-मुद्रा दूँगी। यह सुनकर महारानी मनोरमा ने गणिका से कहा, कि तुम्हारे मुर्गे के साथ मैं अपना मुर्गा लड़ाती हूँ। महारानी मनो-रमा ने, गणिका के मुर्गे से लड़ने के लिए अपना मुर्गा छोड़ा। दोनों मुर्गों का युद्ध होने लगा, लेकिन न तो कोई कुक्कुट जीतता था, न कोई हारता ही था। तब महाराजा घनरथ ने कहा, कि इन दोनों में से कोई भी कुक्कुट जीते हारेगा नहीं। कुमार मेघ-रथ ने महाराजा घनरथ से इसका कारण पूछा। त्रिकालदर्शी

महाराजा घनरथ ने दोनों मुर्गों की पूर्व भव की बात सुना कर कहा कि ये दोनों कुक्कुट समान बलवाले हैं, इसलिए कोई किसी से न हारेगा। यह सुन कर कुमार मेघरथ ने कहा, कि समान पराक्रमी होने के साथ ही ये दोनों कुक्कुट विद्याधरों से अधिष्ठित हैं। महाराजा घनरथ की प्रेरणा से अवधिज्ञानी कुमार घरथ ने, विद्याधरों का पूर्ववृत्तान्त सुनाकर कहा कि इनमें के दोनों विद्याधर, अपने पूर्व भव के पिता—जो इस समय महाराजा घनरथ हैं—का दर्शन करने आये हैं और कौतूहल वश, इन कुक्कुटों के शरीर में प्रवेश करके युद्ध दिखाया है। कुमार मेघरथ का कथन सुनकर, दोनों विद्याधर प्रकट हुए और महाराजा घनरथ को प्रणाम करके अपने स्थान को गये।

दोनों कुक्कुटों ने भी यह सब वृत्तान्त देखा सुना। परिणामों की विशुद्धि से, दोनों कुक्कुटों को जातिस्मृति ज्ञान हुआ। वे, घनरथ महाराजा को प्रणाम करके पश्चाताप करते हुए कहने लगे—हे प्रभो, हम आत्मकल्याण कैसे करें, यह कृपा करके बताइये! महाराजा घनरथ ने, सम्यक्त्व का स्वरूप समझा कर दोनों को समकित दी। समकित पाते ही, दोनों कुक्कुटों ने अनशन करके शरीर त्याग किया, और भूतरत्न नाम की बड़ी अटवी में, ताम्रचूल नाम के महर्द्धिक देव हुए। अवधिज्ञान द्वारा अपना पूर्व भव जानकर दोनों ही देव, अपने पूर्व भव के उपकारी, मेघ-

रथ की सेवा मेंउपस्थित हुए और मेघरथ से प्रार्थना करने लगे, कि हम संसार की अनेक योनियों में भ्रमण करते थे, परन्तु आपकी कृपा से हम इस उत्तम देवयोनि को प्राप्त कर सके हैं। अब आप हम पर प्रसन्न होइये और यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, फिर भी आप हमारे विमान में बैठकर मनुष्यलोक का अवलोकन कीजिये।

उभय देव की प्रार्थना स्वीकार करके सपरिवार कुमार मेघरथ, विमान में सवार हुए। विमान में बैठकर कुमार मेघरथ ने अपने परिवार सहित मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) की प्रदक्षिणा की और फिर अपनी नगरी को लौट आये।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से महाराजा घनरथ ने राजपाट कुमार मेघरथ को सौंप दिया तथा कुमार दृढ़रथ को उनका युवराज बना दिया और आप दीक्षा लेने के लिए वार्षिकदान देने लगे। वर्ष की समाप्ति पर महाराजा घनरथ ने संयम स्वीकार लिया तथा कर्म खपा कर मोक्ष प्राप्त किया।

, महाराजा मेघरथ, राज्य करने लगे। एक दिन वे राजसभा में बैठे थे, इतने ही में एक भय कम्पित कबूतर, महाराजा मेघरथ की गोद में आपड़ा और करुणस्वर में त्राहि-त्राहि पुकारने लगा। महाराजा मेघरथ ने, आश्वासन देकर कबूतर को निर्भय किया कबूतर निर्भय होकर महाराजा मेघरथ की गोद में बैठा था,

इतने ही में एक बाज आया और वह कहने लगा, कि—हे महा-
राजा यह मेरा भक्ष्य है, अतः आप इस कबूतर को छोड़ दीजिये।
महाराजा मेघरथ ने बाज को उत्तर दिया, कि क्षात्रधर्म के विरुद्ध
मैं, शरणागत पक्षी, तुम्हें नहीं दे सकता और तुझे भी मैं यही
समझाता हूँ, कि दूसरे के प्राणनाश द्वारा, अपने प्राणों का पोषण
करना कदापि उचित नहीं है। तू अपने-से प्राण सब के समझ।
इसके सिवा पंचेन्द्रिय का वध, नरक का कारण है, इसलिए जीव
वध त्याग दे। बाज कहने लगा—महाराज, जिस प्रकार यह
कपोत मेरे भय से आपकी शरण आया है, उसी प्रकार मैं भी
क्षुधा के कष्ट से पीड़ा पाकर आपकी शरण आया हूँ। करुणा-
वान पुरुष सभी पर करुणा करते हैं, अतः जिस प्रकार आप
इस पारावत की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार मेरी भी रक्षा कीजिये
और मेरा भक्ष्य मुझे दीजिये। मैं, मांस भोजी प्राणी हूँ और
ताजा मांस ही खाता हूँ। मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ, अतः आप
कबूतर छोड़ दीजिये।

महाराजा मेघरथ ने, बाज को अनेक तरह से समझाया,
परन्तु उसने क्षुधा-पीड़ा के नाम पर, एक भी बात स्वीकार नहीं
की। तब मेघरथ ने उससे कहा कि तू कुछ भी कह, शरणागत
को शत्रु के हवाले कर देना, क्षात्र धर्म के विरुद्ध है, अतः मैं
क्षत्रिय ऐसा कदापि नहीं कर सकता। यह सुन, बाज ने कहा,

कि यदि आप इस कबूतर को नहीं दे सकते, तो कृपया इसके बराबर अपने शरीर का मांस ही दीजिये। महाराजा मेघरथ ने, बाज की यह बात स्वीकार करली। उन्होंने, तराजू मँगवाई। महाराजा मेघरथ ने, तराजू के एक पलड़े में कबूतर को बैठाया और दूसरे पलड़े में अस्त्र द्वारा अपने शरीर का मांस काट-काट कर धरने लगे। देव-माया से कबूतर का बोझ बढ़ता ही गया। मेघरथ भी उदारता-पूर्वक अपने शरीर का मांस काट-काट कर पलड़े में रखते गये, परन्तु कबूतरवाला पलड़ा नीचा ही रहा, बराबर न हुआ। तब धीरवीर और दयासागर महाराजा मेघरथ ने, अपना सारा शरीर ही पलड़े में रख दिया। यह देख कर मन्त्री आदि हाहाकार करके मेघरथ से कहने लगे, कि आप यह क्या कर रहे हैं। एक तुच्छ पक्षी की रक्षा के लिए अपना शरीर क्यों दे रहे हैं? यह पारावत, पक्षी नहीं किन्तु कोई माया है। पक्षी में इतना भार हो ही नहीं सकता। लोगों के बहुत कुछ कहने पर भी, मेघरथ, किंचित भी विचलित नहीं हुए, किन्तु यही विचारते रहे कि इस नाशवान शरीर द्वारा एक प्राणी की रक्षा हो रही है, यह तो बड़े हर्ष की बात है। उसी समय वहाँ एक देव प्रकट हुआ और महाराजा मेघरथ के चरणों में गिर क्षमा-प्रार्थना करके कहने लगा, कि ईशानेन्द्र महाराज ने देव सभा में आपकी प्रशंसा की थी, परन्तु मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ। इस-

लिए मैं, आपकी परीक्षा करने आया। मार्ग में, मैंने इन पक्षियों को देखा और इनके शरीर में प्रवेश करके यह सब किया। अब मुझे मालूम हो गया कि ईशानेन्द्र ने आपकी जो प्रशंसा की थी, आप उससे भी अधिक दयालु, क्षात्रधर्म का पालन करनेवाले और धीरवीर हैं। इस प्रकार महाराजा मेघरथ की प्रशंसा एवं उनसे क्षमा-प्रार्थना करके वह देव, स्वर्ग में गया।

देव के जाने के पश्चात् मेघरथ से उनके मन्त्री आदि पूछने लगे कि—हे भगवान्, ये दोनों पक्षी पूर्व-भव में कौन थे और इनमें वैर कैसे हुआ! तथा यह देव कौन था? अवधिज्ञान की सहायता से महाराजा मेघरथ कहने लगे, कि—इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में, एक श्रेष्ठि के दो पुत्र थे। दोनों पुत्र, व्यापारार्थ विदेश गये। एक अमूल्यरत्न के लिए, दोनों भाई आपस में लड़े। उस लड़ाई में, दोनों ही की मृत्यु हो गई और इस भव में दोनों बाज कबूतर हुए। पूर्व-भव के वैर से ये दोनों इस भव में भी वैर रख रहे हैं। पक्षियों का पूर्व-भव सुनाकर महाराजा मेघरथ उस देव का पूर्व-भव बताने लगे। वे कहने लगे कि यह देव इसी जम्बू द्वीप के महाविदेह क्षेत्र की रमणीय विजय में, दमतारि नाम का प्रति वासुदेव था और मैं, शुभानगरी में, अपराजित बल्देव था तथा भाई दृढ़रथ, अनन्तवीर्य वासुदेव था। कनकश्री नाम की दमतारि की कन्या के लिए, हम दोनों

से दमतारि का युद्ध हुआ था और हमने, दमतारि को मारडाला था। दमतारि, भव-भ्रमण करता हुआ एक तापस हुआ था। वहाँ, कष्ट सहन किये, इससे यह देव हुआ। पूर्व-भव के इसी वैर के कारण, इसे ईशानेन्द्र द्वारा की गई मेरी प्रशंसा, असह्य हुई थी।

अपने पूर्व भव की कथा सुनकर बाज और कपोत को जातिस्मृति ज्ञान हुआ। वे, मेघरथ से कहने लगे—हे महाराज, लोभवश हम मनुष्य भव तो हारे ही थे, लेकिन इस भव में भी हम नरक जाने की ही सामग्री कर रहे थे। आपही ने हमें नरक से बचाया है। अब हमें हमारे कल्यांण का मार्ग बताइये। महाराजा मेघरथ ने, अवधिज्ञान द्वारा अवसर जानकर, दोनों को अनशन करने की आज्ञा दी। अनशन द्वारा शरीर त्याग, दोनों पक्षी, देव भव को प्राप्त हुए।

एक समय महाराजा मेघरथ, अष्टम तप करके पोषधशाला में, कायोत्सर्ग किये बैठे थे। उसी समय, अपने अन्तःपुर में बैठे हुए ईशानेन्द्र महाराज ने, 'नमो भगवते तुभ्यं' कह कर नमस्कार किया। यह देख कर इन्द्रानियों ने ईशानेन्द्र से पूछा—महाराज, आप समस्त जग के वन्दनीय हैं, फिर आपने अतिभक्ति से किसको नमन किया? ईशानेन्द्र महाराज ने उत्तर दिया—हे देवियों, जम्बू द्वीप की पुष्पकलावती विजय के अन्तर्गत पुण्डरी-

किणी नगरी में, घनरथ तीर्थङ्कर के पुत्र महाराजा मेघरथ, अष्टम तप पूर्वक, महाप्रतिमा ध्यान धारण करके बैठे हैं। ये महाराजा भविष्य में इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में सोलहवें तीर्थङ्कर होंगे, इससे मैंने उन्हें नमस्कार किया है। महाराजा मेघरथ को ध्यान से चलायमान करने में, इन्द्रसह सुरासुर का समूह भी समर्थ नहीं है।

ईशानेन्द्र महाराजा द्वारा की गई महाराज मेघरथ की प्रशंसा सुरूपा और अतिरूपा नाम की इन्द्रानियों को सहन नहीं हुई। ये दोनों, मनुष्यलोक में आईं। राजा मेघरथ को ध्यान से डिगाने के लिए दोनों इन्द्रानियाँ, महाराजा मेघरथ के सामने हाव भाव दिखाने लगीं और इस तरह रातभर चेष्टा करती रहीं, परन्तु जिस प्रकार वज्र पर किया गया प्रहार व्यर्थ होता है, उसी प्रकार इन्द्रानियों की भी सब चेष्टा व्यर्थ हुई। सवेरा होने पर, निराश हो इन्द्रानियाँ, अपनी माया समेट कर, और बार-बार महाराजा मेघरथ से क्षमायाचना करके, अपने स्थान को गई।

महाराजा मेघरथ ने, प्रतिमा तथा पौषध पालकर पारणा किया, परन्तु रात की घटना से उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। पति को संसार से विरक्त देख कर महारानी प्रियमित्रा को भी संसार से वैराग्य हो गया। पुण्ययोग से, भगवान घनरथ तीर्थङ्कर

पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे। महाराजा मेघरथ उन्हें वन्दन करने गये। भगवान की वाणी सुनकर महाराजा मेघरथ ने भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो, कृपा करके आप यहीं विराजे रहिये, मैं राज्य का प्रबन्ध करके आपके समीप दीक्षा लेने के लिए उपस्थित होता हूँ। भगवान से यह प्रार्थना करके महाराजा मेघरथ, नगरी में वापस आये और अपने भाई दृढ़रथ युवराज को राज-भार सौंपने लगे। दृढ़रथ युवराज ने, हाथ जोड़ कर महाराजा मेघरथ से प्रार्थना की, कि—हे पूज्य भ्राता, आज तक तो आपने मुझे अपने से दूर नहीं किया, फिर अब आत्म-कल्याण के समय आप मुझे दूर क्यों करते हैं? आप, मुझे अपने से दूर न करिये, मैं भी आपके साथ चारित्र ग्रहण करूँगा। अन्त में, कुमार मेघसेन को राज भार सौंप कर, मेघरथ और दृढ़रथ ने, अन्य सात सौ राजकुमारों और चार सहस्र राजाओं के साथ संयम स्वीकार किया।

मेघरथ मुनि ने, ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया तथा सिंहनीक्रीडति आदि तप एवं बीस बोलों में से कई बोल की आराधना करके तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन किया। अन्त समय में, दृढ़रथ मुनि सहित पण्डित मरण से शरीर त्यागा और सर्वार्थ सिद्ध विमान में, तैंतीस कोड़ सागर की स्थितिवाले देव हुए और दोनों, दिव्य सुख भोगने लगे।

अंतिम भव।
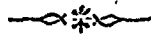
इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, कुरुदेशान्तर्गत हस्तिनापुर नाम का एक प्रख्यात नगर था। यह नगर सुन्दरता में स्वर्ग की समता करता था। महाराजा विश्वसेन वहाँ के राजा थे, जिनकी अचिरा नाम्नी शीलादि गुणों से अलंकृत-पटरानी थी।

सर्वार्थसिद्ध विमान का आयुष्य समाप्त करके मेघरथ का जीव, भादौं कृष्ण ७ को—जब चन्द्र का योग भरिणी नक्षत्र के साथ हुआ—महारानी अचिरा के गर्भ में आया। उस समय महारानी अचिरा, सुख-निद्रा में शयन किये थीं। तीर्थङ्कर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखकर, महारानी अचिरा जाग उठीं। उन्होंने महाराजा विश्वसेन को स्वप्न सुनाये, जिन्हें सुनकर महाराजा विश्वसेन ने कहा, कि स्वप्नों के फल का विचार करते हुए जान पड़ता है, तुम्हारी कोंख से, लोकोत्तर गुण विभूषित पुत्र होगा।

प्रातःकाल महाराजा विश्वसेन ने, स्वप्नशास्त्रियों को बुलाकर स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नशास्त्रियों ने कहा, कि स्वप्नों के प्रभाव से महारानी, चक्री या धर्मचक्री (तीर्थङ्कर) पुत्र प्रसव करेंगी। महाराजा विश्वसेन ने, पुरस्कार सम्मान देकर, स्वप्नशास्त्रियों को बिदा किया।

महारानी अचिरा, गर्भ का पोषण करने लगीं। उन्हीं

दिनों, कुरुदेश में महामरी रोग का बड़ा उपद्रव था। प्रजा में, हाहाकार मचा हुआ था। शान्ति के लिए अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु शान्ति न हुई। तब गर्भवती महारानी अचिरा ने, महल की छत पर चढ़कर, चारों ओर दृष्टिपात किया। महारानी अचिरा की दृष्टि जिस ओर भी पड़ी, गर्भ के प्रताप से, उस ओर उपद्रव शान्त हो गया। इस प्रकार सारे देश में शान्ति हुई और लोग कष्टमुक्त हुए।

गर्भकाल समाप्त होने पर, ज्येष्ठ कृष्णा १३ की रात को—चन्द्र ने भरिणी नक्षत्र के साथ योग जोड़ा उस समय—जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार महारानी अचिरा ने, मृग के चिन्ह वाले, स्वर्णवर्णी, और एक सहस्र आठ लाख लक्षणों के धारक अनुपम पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म होते ही, क्षण भर के लिए त्रिलोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी शान्ति हुई। इन्द्र, देव और दिक् कुमारियों ने भगवान का जन्मकल्याण मनाया और भगवान को पुनः माता के पास लाकर, छत के चँदवे पर पुष्पों का गुच्छा, वस्त्र और कुण्डल जोड़ी रख, सब देव नन्दीश्वर द्वीप को गये। वहाँ अष्टान्हिका महोत्सव मना, सब देव, अपने-अपने स्थान को गये।

महाराजा विश्वसेन ने, पुत्र जन्मोत्सव मनाकर, भगवान

का नाम शान्तिनाथ रखा। इन्द्र संक्रामित अंगुष्ठामृत का पान करते हुए, बालक्रीड़ा समाप्त करके भगवान, युवक हुए। उस समय भगवान का चालीस धनुष ऊँचा शरीर, कल्पवृक्ष के समान शोभायमान जान पड़ता था। भगवान शान्तिनाथ ने, भोग देनेवाले शुभकर्मों को निःशेष करने के लिए, यशोमति आदि अनेक राज्यकन्याओं का पाणि ग्रहण किया।

दाम्पत्य सुख भोगते हुए, भगवान शान्तिनाथ की आयु जब पच्चीस हजार वर्ष की हुई, तब महाराजा अश्वसेन ने, राज्यभार भगवान शान्तिनाथ को सौंप दिया और स्वयं आत्म-कल्याण में लग गये। महाराजा शान्तिनाथ, विधि पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। कुछ काल पश्चात् सर्वार्थसिद्ध विमान का आयुष्य भोग कर, दृढ़रथ का जीव, महारानी यशोमति के गर्भ में आया। महारानी यशोमति ने, स्वप्न में सूर्य देखा। गर्भकाल समाप्त होने पर, महारानी ने, महाभाग्यशाली पुत्र प्रसव किया। पुत्र जन्मोत्सव मनाकर महाराजा शान्तिनाथ ने बालक का नाम चक्रायुध रखा।

महाराजा शान्तिनाथ को जब राज्य करते पच्चीस हजार वर्ष बीत गये, तब इनके आयुधागार में ज्योतिमान् चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। महाराजा शान्ति ने, चक्ररत्न उत्पन्न होने का उत्सव मनाया। शस्त्रागार में से निकल कर, वह चक्र, पूर्व दिशा की

ओर आकाश में स्थित हुआ। तब महाराजा शान्तिनाथ, सेना सहित पूर्व की ओर चले। अनेक देशों को विजय करके समुद्र को पूर्व सीमा पर मागध को, दक्षिण सीमा पर वरदाम् को, पश्चिम सीमा पर प्रभास देव को, अपने आज्ञाकारी की भाँति नियुक्त करके, महाराजा शान्तिनाथ, सिन्धु देवी को लक्ष्य बना, सिन्धु नदी की ओर पधारे। सिन्धु देवी ने, भगवान को भेंट रखकर, भगवान की अधीनता स्वीकार की। तब भगवान शान्तिनाथ, वैताढ्य गिरि की ओर पधारे। इस प्रकार छः खण्ड पृथ्वी साध, चौदह रत्न, नवनिधि, बत्तीस सहस्र देशाधिपति मुकुटधारी राजा, चौंसठ सहस्र रानियाँ, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख रथ और छयान्वे कोटि पैदल आदि चक्रवर्ती की समस्त ऋद्धि सहित भगवान शान्तिनाथ, आठ सौ वर्ष में हस्तिनापुर को लौटे। हस्तिनापुर में, मन्त्रीगण आदि, दीर्घकाल से महाराजा शान्तिनाथ की प्रतीक्षा कर रहे थे, अतः पुरजन-परिजन आदि ने, महाराजा शान्तिनाथ का बहुत स्वागत किया। महाराजा शान्तिनाथ राजभवन में पधारे। वहाँ देवों तथा देशाधिपति मुकुटधारी राजाओं ने मिलकर, भगवान शान्तिनाथ को चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया। हस्तिनापुर में, बारह वर्ष तक एक बड़ा महोत्सव हुआ। महोत्सव काल में, प्रजा कर और दण्ड से भी मुक्त रही।

छः खण्ड के स्वामी भगवान शान्तिनाथ ने, चौबीस सहस्र दो सौ वर्ष तक, चक्रवर्ती पद का उपभोग किया। इनके, एक लाख वान्वे हजार रानियाँ थीं और क्रोड़ों पुत्र थे।

एक दिन भगवान शान्तिनाथ, आत्मचिन्तन कर रहे थे, उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो, यद्यपि आप स्वयंबुद्ध हैं, परन्तु हम परम्परा के अनुसार यह प्रार्थना करने के लिए उपस्थित हुए हैं, कि अब आप धर्मचक्री होकर, त्रिलोक में धर्मशासन प्रवर्ताइये। लोकान्तिक यह प्रार्थना करके ब्रह्मलोक को चले गये, तब अचिरानन्दन भगवान शान्तिनाथ ने, राज्य-भार अपने पुत्र चक्रायुध को सौंप दिया और आप वार्षिकदान देने लगे।

वार्षिकदान समाप्त होने पर, इन्द्र तथा देव देवी, भगवान का निष्क्रमणोत्सव करने के लिए हस्तिनापुर में उपस्थित हुए। स्नानादि से निवृत्त हो, शरीर पर वस्त्राभूषण धार, भगवान शान्तिनाथ सर्वार्थ शिविका में बैठ; जयजयकार सहित नगर के मध्य होते हुए सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ, सब वस्त्रालंकार त्याग, एक सहस्र राजपरिवार के पुरुषों सहित भगवान ने, ज्येष्ठ कृष्ण १४ को छट्ठ के तप में, सर्वविरत चारित्र स्वीकार किया। चारित्र स्वीकार करते ही भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ। भगवान, हस्तिनापुर से विहार कर गये। दूसरे

दिन हरिपुर में सुमित्र राजा के यहाँ, परमान्न से भगवान का पारणा हुआ। इस उत्तम दान की महिमा बताने के लिए देवों ने, पाँच दिव्य प्रकट किये।

संग एवं ममत्व रहित हो, भगवान शान्तिनाथ जनपद में विचरने लगे। एक वर्ष पश्चात् भगवान, हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ, छट्ठ के तप में नन्दी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ भगवान ने, घातिक कर्मों को क्षय कर डाला, तब भगवान को अनन्त केवलज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुए। भगवान को केवलज्ञान होते ही त्रिलोक में क्षणिक प्रकाश हुआ। आसन कम्पादि से अवधिज्ञान द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ जानकर इन्द्रादि देव भगवान की सेवा में उपस्थित हुए। समवशरण की रचना हुई, जिसमें द्वादश प्रकार की परिषद् एकत्रित हुई। भगवान शान्तिनाथ ने, भव-भ्रमण के कष्ट से संतप्त लोगों को अमृत के समान सुखदायिनी वाणी का प्रकाश किया।

भगवान की वाणी श्रवण करके हस्तिनापुर के महाराजा चक्रायुध, परम वैराग्यवन्त होकर भगवान से प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, मैं जन्म मरण के कष्ट से व्यथित हूँ, अतः आपकी शरण ग्रहण करना चाहता हूँ। आप मुझे अपनी शरण में स्थान दीजिये; मैं दीक्षा लेने का अभिलाषी हूँ। चक्रायुध की

प्रार्थना सुनकर भगवान ने उत्तर दिया कि तुम्हें जैसा सुख हो, अविलम्ब वैसा करो, प्रमाद मत करो।

महाराजा चक्रायुध नगर में आये। उन्होंने अपने पुत्र कुरुचन्द्र को राज्याभिषेक किया और अन्य पैंतीस राजाओं के साथ, भगवान के समीप से संयम स्वीकार किया। भगवान ने, इन चक्रायुध आदि को उत्पाद व्यय और ध्रुव इस त्रिपदी का उपदेशकिया, जिससे इन मुनियों ने द्वादशांगी की रचना की और भगवान के गणधर हुए।

अचिरानन्दन भगवान शान्तिनाथ, एक वर्ष कम पच्चीस सहस्र वर्ष केवली पर्याय में विचारते रहे और अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया। इनके बाँसठ सहस्र मुनि, इकसठसहस्र छः सौ आर्यिका, दो लाख नव्वे हजार श्रावक और तीन लाख न्यान्वे हजार श्राविकाएँ हुईं। अपना निर्वाणकाल समीप जान कर भगवान शांतिनाथ, नव सौ मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ, सब ने अनशन कर लिया, जो एक मास तक चलता रहा। अंत में, जेष्ठ कृष्ण १३ को—जब चंद्र का योग भरिणी नक्षत्र में हुआ—भगवान ने चार अघातिक कर्म नष्ट करके सिद्ध पद प्राप्त किया।

भगवान शांतिनाथ, पचीस हजार वर्ष कुमार पद पर रहे। पचीस हजार वर्ष माण्डलिक राजा रहे और पचीस हजार वर्ष

चक्रवर्ती पद का उपभोग किया । फिर संयम लेकर एक वर्ष छद्मस्थावस्था में विचरते रहे । इस प्रकार भगवान, सब एक लाख वर्ष का आयुष्य भोग कर, भगवान धर्मनाथ के निर्वाण को पौन पल्य कम तीन सागरोपम बीत जाने के पश्चात् निर्वाण पधारे ।

प्रश्नः—

१—भगवान शांतिनाथ के कितने भव का हाल जानते हो ?

२—भगवान शांतिनाथ ने, किस भव में किस कार्य द्वारा तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा था ?

३—भगवान शांतिनाथ के समस्त पूर्व भव में, सब से अधिक आदर्श कार्य कौनसा है ?

४—भगवान शांतिनाथ, अचिरामाता के गर्भ में कहाँ से और कितना आयुष्य भोग कर पधारे थे ?

५—भगवान की जन्म तिथि कौनसी है और इनका नाम शांतिनाथ, किस घटना के कारण हुआ ?

६—भगवान शांतिनाथ का गार्हस्थ्य जीवन कितने भागों में किस-किस प्रकार व्यतीत हुआ ?

७—भगवान शांतिनाथ की आयु किस-किस कार्य में कितनी कितनी व्यतीत हुई ?

८—भगवान शांतिनाथ और भगवान अनन्तनाथ के निर्वाण में कितने काल का अंतर रहा ?

भगवान श्री कुन्थुनाथ ।

पूर्व भव ।

श्लोकः —

मा कुन्थुनाथ समथावसथः प्रकृष्ट,
स्थानन्दमाय नय मोहनवारि राशेः ।
मध्येम्बुनाथ तुलनां कलयन्ननल्पा,
स्थानन्दमाय नय मोहनवारि राशेः ॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र में, आवर्त नामकी विजय है। उसमें, खड्गि नाम की नगरी थी। वहाँ सिंहावह नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा, धर्म का आधार और पाप को कुठार रूप था, तथा जिस प्रकार से संयमी लोग अनासक्त रूप से भोजन करते हैं, उसी प्रकार वह अनासक्त रूप से राज्य करता था। समय पाकर उसने संवराचार्य के पास से संयम स्वीकार कर लिया। तीव्ररूप से व्रतों का पालन और बीस बोल में कई बोल की आराधना करके, सिंहावह मुनि ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में, समाधि पूर्वक काल करके सर्वार्थ सिद्ध महाविमान में तैंतीस सागर की आयुवाले अहमिन्द्र देव हुए।

अंतिम भव।

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में, कुरुदेशान्तर्गत हस्तिनापुर नगर था जो स्वर्ग से स्पर्द्धा करता था। वह नगर, अनेक भवन, अट्टालिका और उद्यानादि से सुशोभित था। वहाँ, सूर्य जैसे तेज वाला सूर नाम का राजा राज्य करता था। सूर की सूरा, नाम्नी रानी थी, जो श्री के समान थी।

सर्वार्थ सिद्ध महा विमान का आयुष्य भोग कर सिंहावह राजा का जीव श्रावण कृष्ण ९ को—जब चन्द्र कृतिका नक्षत्र में था, तब—सूरा देवी के गर्भ में आया। महारानी सूरा-देवी, सुख शैया पर शयन किये थीं। वे तीर्थङ्कर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखकर जाग उठीं और पति के समीप जाकर सब स्वप्न सुनाये। महाराजा सूर ने, महारानी सूरादेवी से कहा, कि स्वप्न प्रभाव से, तुम चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर पुत्र प्रसव करोगी।

नौमास साढ़े सात रात बीतने पर, वैशाख कृष्ण ९ को—जब चन्द्र कृतिका नक्षत्र में था उस समम—महारानी सूरादेवी ने, एक सहस्र आठ लक्षणों से युक्त स्वर्ण वर्णी और अज के चिन्हवाले अनुपम पुत्र को जन्म दिया। तीनों लोक में, तत्काल उद्योत हुआ। आसनकंपादि से भगवान का जन्म हुआ जान कर, अच्युतादि चौंसठ इन्द्र, छप्पन दिक्कुमारी और असंख्य देव देवी ने, भगवान का मन्दिराचल पर्वत पर जन्म कल्याण मनाया। पश्चात् भगवान को, महारानी सूरादेवी के समीप प्रस्तुत किये।

पुत्र जन्मोत्सव मनाकर महाराजा सूर ने, भगवान का नाम कुन्थुकुमार रखा। अंगुष्ठामृत का पान करते हुए और धाइयों द्वारा लालन पालन कराते हुए, भगवान बाल्यावस्था त्याग, युवक हुए। उस समय भगवान का पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर,

कल्पवृक्ष के समान सुशोभित लगने लगा। पिता के आग्रह से भगवान ने; अनेक राजकन्याओं का पाणिग्रहण किया और दाम्पत्य सुख भोगते हुए सानन्द रहने लगे। जब भगवान पौने चौवीस सहस्र वर्ष के हुए, तब महाराजा सूर के आग्रह से भगवान ने राज्य-पाट स्वीकार किया।

भगवान कुन्थुनाथ को, पौने चौवीस सहस्र वर्ष माण्डलिक राजा के रूप में राज्य करते बीते, उस समय शस्त्रागाररक्षक ने आकर भगवान को चक्ररत्न उत्पन्न होने की बधाई दी। भगवान ने, चक्ररत्न की विधि पूर्वक पूजा की। पश्चात् वह चक्ररत्न, आयुधशाला से निकल कर, अन्तरिक्ष में स्थित हुआ। तब भगवान कुन्थुनाथ ने, दिग्विजय की तयारी करके, चक्र के संकेतानुसार छः खण्ड साध लिये। मागधपति वरदाम, प्रभास, सिन्धु देवी, कृतमालदेव, नटमाल देव, वैताढ्यगिरि देव, आदि सीमारक्षक देवों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर, भगवान कुन्थुनाथ, छः सौ वर्ष पश्चात् चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सम्पत्ति से युक्त होकर हस्तिनापुर में पधारे। देवों तथा राजाओं ने मिलकर, भगवान को चक्रवर्ती पद का अभिषेक किया, जिसका महोत्सव हस्तिनापुर में बारह वर्ष तक होता रहा और इतने ही काल तक प्रजा, कर दण्ड आदि से मुक्त रही।

भगवान कुन्थुनाथ को चक्रवर्ती पद का उपभोग करते पौने

चौबीस सहस्र वर्ष बीत चुके थे, तब आत्मचिन्तन करते हुए भगवान ने, संसार त्याग का विचार किया। उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से धर्म तीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की। भगवान कुन्थुनाथ ने उसी समय अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं वार्षिकदान देने लगे।

भगवान कुन्थुनाथ, नित्य प्रति सूर्योदय से एक पहर दिन चढ़ने तक, एक क्रोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्रा दान करते थे। देवता लोग, सारे भरतक्षेत्र में से दान लेने वाले लोगों को लाते थे। भगवान कुन्थुनाथ, मुट्ठी भर-भर कर स्वर्णमुद्रा दान करते थे, परन्तु जिसे जितनी स्वर्णमुद्रा मिलने का योग होता था, उसे उतनी ही स्वर्णमुद्रा मिलती थीं। अर्थात् जिसे जितनी स्वर्ण-मुद्रा मिलने का योग है, भगवान की मुट्ठी में यदि उससे अधिक स्वर्णमुद्रा हुई, तब तो इन्द्र महाराज अधिक स्वर्णमुद्राओं को हरण कर लेते थे और यदि भगवान की मुट्ठी में कम हुई, तो इन्द्र महाराज भगवान की मुट्ठी में और स्वर्णमुद्रा मिला देते थे। इस प्रकार, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र, चमरेन्द्र और बलेन्द्र से सेवित भगवान, एक वर्ष तक मेघवृष्टि की तरह दान देते रहे।

तीर्थङ्कर द्वारा दिया गया दान लेने के लिए सेठ साहूकार और राजा महाराजा भी आया करते हैं। तीर्थङ्कर भगवान द्वारा दिये गये दान में यह विशेषता होती है कि दान में मिली हुई

स्वर्ण मुद्राएँ जिस द्रव्य म रख दी जाती हैं वह द्रव्य अक्षय हो जाता है, अर्थात् उस द्रव्य का कभी अन्त नहीं आता। साथ ही जिस घर में वह दान का द्रव्य होता है वहाँ सदा शान्ति रहती है, कभी संकट नहीं आता; ऐसा महापुरुष फरमाते हैं।

वार्षिक दान की समाप्ति पर, इन्द्र और देव, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाने के लिए उपस्थित ए। दीक्षाभिषेक के पश्चात् भगवान वस्त्रालंकार धारण करके विजया नाम्नी शिविका में आरूढ़ हो, देव तथा मनुष्यों द्वारा जयजयकार होते हुवे, नगर के मध्य होकर सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ भगवान ने सब वस्त्रालंकार त्याग दिये। पश्चात् वैशाख कृष्ण ५ को दिन के पिछले पहर में, कृतिका नक्षत्र में, भगवान ने पंचमुष्ठि लोंच करके छट्ठ के तप में एक सहस्र राजाओं सहित चारित्र स्वीकार किया। चारित्र लेते ही भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ।

दूसरे दिन, चक्रपुर नगर के राजा व्याघ्रसिंह के यहाँ, भगवान कुन्थुनाथ का परमान्न से पारणा हुआ। दान की महिमा करने के लिए देवों ने, पांच दिव्य प्रकट किये।

वायु की तरह अप्रतिबन्ध विहार करते हुए और अनेक प्रकार के तप करते हुए भगवान, सोलह वर्ष तक छद्मस्थ-अवस्था में विचरते रहे। अन्त में विहार करते-करते भगवान, हस्तिनापुर के सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ भगवान ने, छट्ठ का तप

करके तिल के वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग किया। उस समय भगवान ने, शुक्लध्यान और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर, घातिक कर्मों को क्षय कर दिया और चैत्र शुक्ल ३ को कृतिका नक्षत्र में अनन्त केवलज्ञान प्राप्त किया।

भगवान कुन्थुनाथ को केवलज्ञान होते ही, त्रिलोक में क्षणिक प्रकाश हुआ। भगवान को केवलज्ञान हुआ जान कर, इन्द्र सहित देवों ने भगवान की सेवा में उपस्थित हो, केवलज्ञान महोत्सव मनाया। वहीं पर, समवशरण की रचना हुई, जिसमें बैठकर बारह प्रकार की परिषद् ने भगवान की दिव्य वाणी सुनी। भगवान की वाणी सुनकर, अनेक भव्य जीव प्रतिबोध पाये।

भगवान कुन्थुनाथ के, स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे। साठ हजार साधु थे। साठ हजार छः सौ आर्यिका थीं। एक लाख उन्यासी हजार श्रावक थे और तीन लाख इक्यासी हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान कुन्थुनाथ ने, सोलह वर्ष कम पौने चौबीस हजार वर्ष केवली पर्याय में विचार कर, अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर, भगवान कुन्थुनाथ, एक सहस्र मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ, भगवान ने अनशन कर लिया, जो एक मास तक चलता रहा। अन्त में, वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को भगवान, शैलेशी अवस्था में

प्राप्त हो मोक्ष पधारे।

भगवान कुन्थुनाथ पौने चौवीस हज़ार वर्ष तक कुमार पद पर रहे। पौने चौवीस हज़ार वर्ष, माण्डलिक राजा रहे। पौने चौवीस हज़ार वर्ष, चक्रवर्ती पद का उपभोग किया। सोलह वर्ष छद्मस्थावस्था में विचरे और शेष आयु, केवली पर्याय में व्यतीत की। इसप्रकार भगवान कुन्थुनाथ सब पच्यान्वे हज़ार वर्ष का आयुष्य भोग कर, भगवान शान्तिनाथ के निर्वाण के अर्द्ध पल्योपम पश्चात् निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान कुन्थुनाथ, पूर्व भव में कौन थे ? कहाँ रहते थे ? और क्या करके तीर्थंकर गोत्र बाँधा था।

२—भगवान कुन्थुनाथ के माता-पिता और जन्मस्थान का नाम क्या है ?

३—भगवान कुन्थुनाथ का चक्रवर्ती पद का अभिषेक कितनी अवस्था में हुआ था ?

४—तीर्थङ्कर द्वारा दिये गये दान की विशेषता क्या है ?

५—भगवान कुन्थुनाथ की जन्मतिथि, दीक्षातिथि, केवल-ज्ञान प्राप्ति तिथि और निर्वाण तिथि कौनसी है ?

६—भगवान कुन्थुनाथ ने कितनी आयु किस-किस कार्य में व्यतीत की ?

७—भगवान कुन्थुनाथ द्वारा स्थापित तीर्थ की भिन्न-भिन्न संख्या क्या थी ?

८—भगवान कुन्थुनाथ और भगवान धर्मनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा ?

भगवान श्री अरहनाथ ।

पूर्व भव ।

श्लोकः —
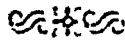
पटि पदोर्लुठति यस्य सुरालिरग्र,
सेवे सुदर्शन धरेऽशमनं तवाऽऽयम् ।
त्वं खण्ड यन्त मरतं परितोपयन्तं,
सेवे सुदर्शन धरेश मनन्तवामम् ॥

—:o:—

जम्बू द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र में, वत्स नाम की विजय है, जिसमें सुसीमा नाम की एक रमणीय नगरी थी। वहाँ, धनपति नाम का एक पराक्रमी राजा राज्य करता था, जो धर्म-अर्थ काम और मोक्ष की आराधना करता हुआ प्रजा का पालन करता था। धनपति को संसार से विरक्ति हो गई, इसलिए उसने श्री संवर मुनि के पास दीक्षा धारण कर ली। अनेक प्रकार से बाह्याभ्यंतर तप एवं बीस स्थानकों में से कितने ही स्थानक की आराधना करके धनपति मुनि ने, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय में, अनशन करके समाधि सहित शरीर त्याग सर्वार्थ सिद्ध महाविमान में, तैंतीस सागर की आयु वाले महर्द्धिक देव हुए।

अन्तिम भव।

एक लक्ष योजन के विस्तार वाले जम्बू द्वीप के भरतार्द्ध में, परमसमृद्धिशाली हस्तिनापुर नाम का एक नगर था। वहाँ, इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न महा तेजस्वी महाराजा सुदर्शन राज्य करते थे। महाराजा सुदर्शन की रानी का नाम श्रीदेवी था, जो रूप एवं स्त्रियोचित गुणों से परिपूर्ण थीं।

सर्वार्थसिद्ध विमान का आयुष्य भोग कर, धनपति राजा का जीव फाल्गुन शुक्ल २ की रात में—जब चन्द्र का रेवती नक्षत्र के साथ योग था—महारानी श्रीदेवी के उदर में आया। सुखशैया पर शयन किये हुई महारानी श्रीदेवी ने, तीर्थङ्कर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। महारानी श्रीदेवी नींद से जाग उठीं। उन्होंने महाराजा सुदर्शन को स्वप्न सुनाये, जिन्हें सुन कर, उन्होंने महारानी से यह कहा कि तुम्हारे त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट पुत्र होगा। महारानी श्रीदेवी ने पति के वचन पर विश्वास करके तथास्तु कहा और गर्भ का पालन करने लगीं।

गर्भ काल समाप्त होने पर, महारानी श्रीदेवी ने, सर्व लक्षण व्यंजन युक्त स्वस्तिका के चिन्ह वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म होते ही क्षण भर के लिए तीनों लोक में प्रकाश हो गया और नैरियकों को भी शान्ति मिली।

छप्पन दिक्कुमारियों ने, आसनकम्प से भगवान का जन्म हुआ जाना। ये छप्पन दिक्कुमारियाँ,आठ-आठ, चारों दिशा में, चार-चार, चारों विदिशा में;चार उर्ध्वलोक में और चार अधःलोक में बसती हैं। भगवान जन्मे हैं, यह जान कर छप्पन दिक्कुमारियाँ, अपने चार हजार सामानिक देव, सोलह हजार आत्मरक्षक देव, बीस हजार तीनों परिषद के देव, और चार अणिका, सात महत्तरिका आदि परिवार सहित, विमान में बैठ कर, भग-

वान के जन्म गृह में उपस्थित हुई। महारानी श्रीदेवी को नमस्कार करके छप्पन दिक्कुमारियों ने अपना परिचय दिया और माता से प्रार्थना की, कि हम अपने जीताचार के अनुसार भगवान का जन्मकल्याण मनाने के लिए आई हैं, अतः आप किसी प्रकार का भय न करें। इस प्रकार प्रार्थना करके दिक्कुमारियाँ अपना-अपना काम करने लगीं।

दिक्कुमारियों की तरह इन्द्रों ने भी भगवान का जन्म हुआ जाना। भुवनपति के बीस, व्यन्तरों के बत्तीस, ज्योतिषियों के दो और वैमानिकों के दस, इन चौंसठ इन्द्र में से त्रैसठ इन्द्र तो अपने-अपने परिवार सहित सुमेरु गिरि पर पधारे और सौधर्मपति शक्रेन्द्र महाराज, अपने परिवार सहित माता श्रीदेवी की सेवा में उपस्थित हुए। माता को नमन करके और अपना परिचय देकर शक्रेन्द्र महाराज ने माता को अवश्यव्यापिनी निद्रा दी और भगवान को लेकर, सुमेरुगिरि की ओर प्रस्थान किया। सुमेरुगिरि पर, शक्रेन्द्र महाराज, भगवान को अपनी गोद में लेकर बैठे, तब शेष त्रैसठ इन्द्रों ने भगवान को स्नान करा, वस्त्राभूषण पहनाये और भगवान की पूजा करके आरती उतारी। फिर भगवान को, इशानेन्द्र की गोद में देकर शक्रेन्द्र महाराज ने, चार वृषभ वैक्रिय करके उनके अंगों में से जल की धारा, भगवान के ऊपर पहुँचाई और सब ने मिलकर भगवान को

स्नान कराया। फिर भगवान को दिव्य वस्त्रालंकार पहना, भगवान की पूजा की और आरती उतारी। यह हो जाने पर, गीत नृत्य करके शक्रेन्द्र महाराज, भगवान को माता के पास लाये। भगवान की सेवा के लिए, अनेक देव देवियों को नियत करके इन्द्रादि देव अपने-अपने स्थान को गये।

प्रातःकाल महाराजा सुदर्शन ने, पुत्रजन्मोत्सव मनाकर, भगवान का अरहनाथ नाम रखा। लालन-पालन के मध्य भगवान, वृद्धि पाने लगे। बाल अवस्था त्याग कर भगवान ने, युवावस्था में प्रवेश किया। उस समय भगवान का तीस धनुष ऊँचा शरीर बहुत सुन्दर मालूम होता था। माता-पिता ने अति आग्रह-पूर्वक भगवान का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया।

दाम्पत्य सुख भोगते हुए जब भगवान की आयु इक्कीस सहस्र वर्ष की हुई, तब पिता के आग्रह से भगवान ने, राजभार ग्रहण किया। भगवान को राज्य करते हुए इक्कीस सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके, उस समय भगवान के आयुधागार में, दिव्य चक्ररत्न प्रकट हुआ। आयुधागार-रक्षक ने, भगवान को, चक्ररत्न प्रकट होने की बधाई दी। भगवान ने, सपरिवार पधार कर, चक्ररत्न की विधिपूर्वक पूजा की। पूजा होते ही चक्ररत्न, आयुधशाला से बाहर निकला और पूर्वाभिमुख आकाश में

स्थित हुआ। भगवान अरहनाथ ने, तत्क्षण सेना सजा कर, विजय के लिए पयान किया।

सेना सहित भगवान, नित्य एक योजन चल कर पड़ाव डाल देते थे और मार्ग में जितने भी देश नगर आते थे, उनके अधिपति से अपनी अधीनता स्वीकार कराते जाते थे। इस प्रकार भगवान, ससैन्य समुद्र तक पहुँच गये और वहाँ के रक्षक मागधदेव को साधकर, वहाँ के निरीक्षण का भार उसे सौंप भगवान, दक्षिण दिशा की ओर बढ़े। दक्षिण में वरदाम देव को और पश्चिम में प्रभासदेव को साध, भगवान, सैन्य सहित सिन्धुदेवी की ओर बढ़े। सिन्धुदेवी, तथा सिन्ध के पश्चिमी भाग को साध भगवान, वैताढ्य गिरि के निकट पहुँचे। वहाँ वैताढ्यगिरि देव को साध और गुफाओं के द्वार खोल, भगवान ने उत्तर के तीनों खण्ड साधे। फिर, गंगादेवी और गंगा के पूर्वीय भागों को साधा। इस प्रकार सारे भरतक्षेत्र में अपनी आन प्रवर्ताकर, चारसौ वर्ष पश्चात् भगवान अरहनाथ, चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सम्पदा सहित हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में, पच्चीस हजार देवता, बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा, और प्रधान सामन्त आदि ने मिलकर भगवान अरहनाथ को चक्रवर्ती पद का अभिषेक किया, जिसका महोत्सव बारह वर्ष तक होता रहा।

भगवान अरहनाथ ने इक्कीस सहस्र वर्ष तक सम्पूर्ण भरत-

क्षेत्र पर आधिपत्य किया। एक दिन भगवान आत्मचिन्तन कर रहे थे, इतने ही में लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से प्रार्थना की, कि प्रभो, तीर्थ प्रवर्ताइये। भगवान ने, तत्क्षण राज-पाट अपने पुत्र अरविन्द को सौंप दिया और आप वार्षिकदान देने लगे। वार्षिक दान समाप्त होने पर, दीक्षाभिषेक के पश्चात् वस्त्रालंकार धारणकर भगवान, वैजन्ती शिविका में विराजे और देव तथा मनुष्यों द्वारा होने वाले जयजयकार के मध्य, सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ, शिविका एवं वस्त्रालंकार त्याग भगवान ने राजपरिवार के एक सहस्र पुरुषों सहित मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को दिन के पिछले पहर में, छट्ठ के तप में संयम स्वीकार किया। उसी समय भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ।

दूसरे दिन, राजपुर के अपराजित राजा के यहाँ भगवान का परमान्न से पारणा हुआ। देवताओं ने, दान की महिमा करने के लिए पाँच दिव्य प्रकट किये।

अप्रतिबंध विहार करते हुए भगवान, तीनवर्ष पश्चात् पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ भगवान, आम्र-वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण करके खड़े रहे। ध्यान का तीव्र वेग बढ़ने से, क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो, भगवान, चार घन-घातिक कर्म क्षय किये और भगवान को अनन्त केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भगवान को केवलज्ञान होते ही, त्रिलोक में प्रकाश हुआ।

आसनकम्प द्वारा प्रभु को केवलज्ञान हुआ जानकर, असंख्य देवों सहित अच्युतादि इन्द्र, केवलज्ञान की महिमा करने के लिए उपस्थित हुए। वहाँ, समवशरण की रचना हुई, जिसमें बारह प्रकार की परिषद्, भगवान की वाणी श्रवण करने के लिए एकत्रित हुई। भगवान ने, कर्ण-मधुर वाणी का प्रकाश किया, जिसे सुनकर अनेक भव्य जीव प्रतिबोध पाये।

भगवान अरहनाथ के, कुम्भ आदि तैंतीस गणधर थे। पचास हजार मुनि थे। साठ हजार साध्वी थीं। एक लाख चौरासी हजार श्रावक थे और तीन लाख बहत्तर हजार श्राविका थीं।

भगवान अरहनाथ, तीन वर्ष कम इक्कीस हजार वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते रहे और अनेक भव्यजीवों का कल्याण करते रहे। अपना निर्वाण काल समीप जान, भगवान अरहनाथ, एक हजार मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने अनशन कर लिया, जो एक मास तक चलता रहा। अन्त में मार्गशीर्ष शुक्ल १० के दिन—जब चन्द्र रेवती नक्षत्र में आया—अयोगी अवस्था को प्राप्त हो भगवान ने, चार अघातिक कर्म क्षय कर दिये और सिद्ध पद प्राप्त किया।

भगवान अरहनाथ, इक्कीस हजार वर्ष कुमार पद पर रहे। इक्कीस हजार वर्ष माण्डलिक राजा रहे। इक्कीस हजार वर्ष चक्र-वर्ती पद पर रहे। तीन वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और शेष

आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार भगवान अरह-नाथ चौरासी हज़ार वर्ष की आयु भोग कर, भगवान कुन्थुनाथ के निर्वाण को एक क्रोड़ वर्ष कम पाव पल्योपम व्यतीत होने पर निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान अरहनाथ, पूर्व भव में कौन थे, कहाँ रहते थे और क्या करके तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा था ?

२—भगवान अरहनाथ, किस नगर में, किस कुल में, और किस तिथि को जन्मे थे तथा इनके माता-पिता का नाम क्या था ?

३—भगवान अरहनाथ, माता के गर्भ में, कहाँ से और कितना आयुष्य भोग कर पधारे थे ?

४—चौंसठ इन्द्र के भेद बताओ।

५—भगवान अरहनाथ का शरीर कितना ऊँचा था और इनके शरीर पर कौन-सा चिन्ह था ?

६—भगवान अरहनाथ से पहले कोई और तीर्थङ्कर ऐसे हुए थे या नहीं, जो चक्रवर्ती रहे हों ? यदि थे, तो कौन ?

७—चक्रवर्ती किसे कहते हैं ?

८—भगवान अरहनाथ को छ:खण्ड साधने में कितना समय लगा था और कौन से छ:खण्ड साधे थे ?

९—भगवान अरहनाथ को केवल ज्ञान किस तिथि को हुआ था और किस तिथि को भगवान का निर्वाण हुआ ?

१०–भगवान ने आयु का उपभोग किस-किस कार्य में किया, संख्या सहित बताओ ?

भगवान श्री मल्लिनाथ ।

पूर्व भव ।
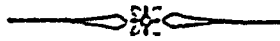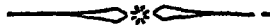
श्लोक :—

श्री मल्लिनाथ शमथ द्रुम सेक पाथः
कान्त प्रियंगु रुचिरोचित काय तेजः ।
पादाब्ज मस्तु मदनार्ति मर्धी विमुक्ता,
कान्त प्रियंगुरुचिरोचित काय तेजः ॥

—※—

जम्बू द्वीप के पश्चिम महाविदेह में, लीलावती विजय के अन्तर्गत वीतशोका नाम की एक रमणीय नगरी थी। वहाँ, बलि नाम का राजा राज्य करता था, जिसके धारिणी देवी नाम की रानी थी। धारिणीदेवी ने, स्वप्न में केसरी सिंह देखा। परिणामतः महारानी धारिणीदेवी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम महाबल रखा गया। महाबल के अचल धरण पूरण, वसु, वैश्रवण और अभिचन्द्र नाम के छः बालमित्र थे। बाल मित्रों के साथ विनोद करता हुआ, कुमार महाबल, युवक हुआ। महाबल का कमलश्री आदि पाँच सौ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ। कुछ समय पश्चात, महाराजा बलि, महाबल को राज्य सौंप कर आत्मकल्याण में लग गये।

महाराजा महाबल, राजकार्य करने लगे। महाबल की कमलश्री रानी से बलभद्र नाम का पुत्र हुआ। जब बलभद्र युवक हुआ, तब महाबल ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया और स्वयं अपने मित्रों सहित अर्हंत-भाषित धर्म की सेवा करने लगे।

एक समय महाराज महाबल ने अपने मित्रों से कहा, कि मैं सांसारिक कष्टों से बहुत भयभीत हूँ, अतः मेरी इच्छा, संयम लेने की है। आप लोगों की इच्छा क्या है ? यह प्रश्न करने पर, छहों मित्र बोले, कि आज तक हम आपके साथ रह कर ही सांसारिक सुख भोगते रहे हैं, अतः कल्याण-मार्ग में भी आपही

के साथ रहेंगे। महाराजा महाबल ने, राजपाट युवराज बलभद्र को सौंप दिया। इनके छहों मित्र भी, सांसारिक बोझ से निवृत्त हो गये और सातों मित्रों ने महात्मा वरधर्म मुनि के पास दीक्षा लेली।

दीक्षा लेकर सातों मित्रों ने आपस में यह प्रतिज्ञा की, कि अपन सब समान रूप से तप करेंगे। यह प्रतिज्ञा करके सातों मुनि, चतुर्थादि अनेक प्रकार के तप करने लगे, किन्तु महाबल मुनि ने विचार किया, कि मैं इन छः से बड़ा हूँ, अतः मुझे विशेष तप करना चाहिए; अन्यथा भविष्य में सातों समान हो जावेंगे, मेरा बड़प्पन न रहेगा। इस प्रकार विचार कर महाबल मुनि पारणे के दिन, आज मेरा पेट दुखता है. आज मस्तक दुखता है आदि बहाना बनाकर पारणा न करते और तपस्या बढ़ा देते। इस प्रकार मायामिश्रित तप करने से, महाबल मुनि ने, स्त्रीवेद का बन्ध कर लिया, लेकिन अर्हद्भक्ति आदि बोलों का सेवन करने से प्रथम तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन कर लिया था। सातों मुनियों ने, चौरासी हजार वर्ष तक संयम का पालन किया। अन्त में, अनशन द्वारा समाधिपूर्वक शरीर त्याग, जयन्त नाम के अनुत्तर विमान में, बत्तीस सागर की आयु वाले अहमिन्द्र देव हुए।

महाबल मुनि ने, माया सहित किये हुए तप की आलोचना

नहीं की, इससे स्त्री-वेद कर्म अविच्छन्न रहा। इस घटना से यह शिक्षा मिलती है, कि धर्म-करणी चाहे कम करे या ज्यादा, परन्तु हो कपट-रहित शुद्ध हृदय से। कपट सहित अधिक की गई धर्म-करणी भी, दुःखदायिनी हो जाती है। शास्त्रकार कहते हैं, कि 'माई मिच्छादिट्ठी अमाई समदिट्ठी।' अर्थात् कपटी ही मिथ्यादृष्टि है और निष्कपटी ही समदृष्टि है। कपटी का जप-तप नियम प्रत्याख्यान श्रावकपना और साधुपना भी, अंक रहित बिन्दियों के समान हो जाता है। बुद्धिमानों को कपटभाव त्याग, सरल व शुद्ध हृदय से ही धर्म करना उचित है।

चरित्र से ज्ञात होता है, कि महाबल मुनि का भावी आयुष्य, कपट सहित तप करने से पूर्व ही बँध चुका था, अन्यथा कपटी का शुभ आयुष्य नहीं बँधता। थोड़े से दोष की भी आलोचना न करने से कैसा दुष्परिणाम भोगना होता है, यह इस चरित्र से स्पष्ट है।

अन्तिम भव।

इसी जम्बू द्वीप के भरतार्द्ध में, विदेह देशान्तर्गत मिथिला-पुरी नाम की एक नगरी थी। वहाँ कुम्भ नाम के प्रतापी राजा राज्य करते थे। इनकी रानी का नाम प्रभावती था जो शील

सौन्दर्य में अप्रतिम थीं।

जयन्त विमान का आयुष्य पूर्ण करके महाबल राजा का जीव, फाल्गुन शुक्ल ४ को—जब चन्द्र अश्विनी नक्षत्र में आया—महारानी प्रभावती के गर्भ में आया। सुखशैया पर शयन किये हुई महारानी प्रभावती, तीर्थङ्कर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देख कर जाग उठीं। महारानी प्रभावती ने, पति को स्वप्न सुनाये जिन्हें सुन कर कुम्भराजा ने कहा कि तुम्हारे गर्भ से तीर्थङ्कर का जन्म होगा। महारानी प्रभावती, गर्भ का पालन-पोषण करने लगीं।

गर्भवती महारानी को, मालती पुष्प की शैया पर शयन करने की इच्छा हुई। देवों ने, महारानी—प्रभावती की इस इच्छा को पूर्ण की। गर्भकाल समाप्त होने पर, मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को—जब चन्द्र अश्विनी नक्षत्र में आया—महारानी प्रभावती ने उन्नीसवें तीर्थङ्कर को पुत्री रूप में * प्रसव किया। भगवान के शरीर पर, मुख्य चिन्ह कुम्भ कलश का था और भगवान

*भगवान तीर्थङ्कर, वैसे तो पुरुष रूप में ही अवतीर्ण होते हैं, परन्तु अपवाद स्वरूप स्त्रीरूप में भी अवतीर्ण हो जाते हैं। ऐसे अपवाद को, लोकप्रवृत्ति में आश्चर्य मानते हैं। अवसर्पिणी काल में होने वाले दस आश्चर्यों में से, उन्नीसवें तीर्थङ्कर का स्त्रीरूप में अवतीर्ण होना भी एक आश्चर्य है। लेखक—

अपनी कान्ति से नीलमणि की प्रभा को भी हरण करते थे। भगवान के जन्म लेते ही त्रिलोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली।

आसनकम्प से तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान छप्पन दिक्‌कुमारियों, और देवताओं सहित इन्द्रों ने यथा स्थान उपस्थित होकर भगवान का जन्मकल्याण मनाया। जन्म-कल्याण मना कर, भगवान को माता के पास पधरा गये और अपने-अपने स्थान गये।

भगवान जब गर्भ में थे, तब महारानी प्रभावती की इच्छा, मालती-पुष्प की शैया पर शयन करने की हुई थी। इस बात को दृष्टि में रख कर, भगवान के माता-पिता ने भगवान का नाम मल्लिकुमारी रखा। धात्रियों द्वारा लालन-पालन पाते हुए भगवान ने युवावस्था में प्रवेश किया। उस समय भगवान के पच्चीस धनुष ऊँचे और नीलमणि की कान्ति को हरणकरने वाले शरीर का रूप लावण्य, स्वर्ग की अप्सराओं को भी शर्माता था।

भगवान के पूर्व भव के मित्र भी, जयन्तविमान का आयुष्य भोग कर, इसी भरतार्द्ध में, भिन्न-भिन्न देश के राजाओं के यहाँ जन्मे और वयस्क होकर राज्य करने लगे। अचल का जीव, साकेतपुर (अयोध्या) का प्रतिबुद्ध राजा हुआ। धरण का जीव, चम्पा नगरी का चन्द्रछाप राजा हुआ। पूरन का जीव,

श्रावस्तीनगरी का रुक्मी राजा हुआ। वसु का जीव, वाराणशी नगरी का शंख राजा हुआ। वैश्रवण का जीव, हस्तिनापुर का अदीनशत्रु राजा हुआ। और अभिचन्द्र का जीव, कम्पिलपुर का जित-शत्रु राजा हुआ।

इन छहों राजाओं ने किसी न किसी प्रसंग से विदेहराज कुम्भ की कन्या भगवान मल्लि के उत्कृष्ट रूप लावण्य की प्रशंसा सुनी। छहों राजाओं ने, अपने-अपने दूत कुम्भ राजा के पास भेजे और कुम्भराजा से मल्लिकुमारी की याचना कराई। इधर भगवान मल्लिनाथ ने अपने पूर्वभव के साथियों का हाल अवधिज्ञान द्वारा जान लिया कि इस समय वे कहाँ-कहाँ के राजा हैं। अपने पूर्व भव के मित्रों को प्रतिबोध देने के लिए भगवान ने, अशोक वाटिका में एक मोहनगृह बनवाया। मोहनगृह के मध्य में, एक पीठिका (चबूतरा) बनवाकर भगवान ने उसके ऊपर अपने आकार की एक प्रतिमा खड़ी की। भगवान मल्लिनाथ के आकार की यह पुतली, स्वर्णमयी थी। उसके अधर, पद्मराग मणिमय थे। नीलमणि के केश थे। स्फटिक रत्न के लोचन थे। प्रवालमयी हाथ पाँव थे। उसका उदर पोला और छिद्र सहित था। उसके तालु में भी एक छिद्र था, जिसका मुख मस्तक पर था। मस्तक का एक कमलाकार स्वर्णमयी ढक्कन था, जो मुकुट की भाँति बना हुआ था। देखने

में वह पुतली, साक्षात् मल्लिकुमारी ही जान पड़ती थी।

जिस रत्नमयी पीठिका पर यह पुतली थी, उसके चारों ओर छः द्वार वाली दीवाल बनवाई। द्वार इस प्रकार रखे कि एक द्वार से प्रवेश करके पुतली के सन्मुख पहुँचा हुआ व्यक्ति, दूसरे द्वार से प्रवेश करके पुतली के सामने पहुँचे हुए व्यक्ति को न देख सके। एक मार्ग, पुतली की पीठ की ओर रखा, जिससे पुतली के समीप पहुँच सके। इस प्रकार कलामय गृह और पुतली बनवा कर भगवान मल्लिनाथ, एक एक ग्रास भोजन-सामग्री नित्यप्रति उस पुतली में डालने लगे। मस्तक पर रहे हुए छिद्र द्वार से, भगवान, पुतली के उदर में ग्रास डाल देते और फिर ढक्कन बंद कर देते।

छहों राजाओं के दूत, योगायोग से कुम्भराजा के दरबार में एक ही साथ पहुँचे। छहों दूतों ने शिष्टाचार-पूर्वक कुम्भराजा से मल्लिकुमारी की* याचना की। महाराजा कुम्भ ने, दूतों का अपमान करते हुए यह उत्तर दिया, कि यह कन्या त्रैलोक्य की मुकुटमणि है, मनुष्य तो क्या, देवलोक के इन्द्र भी इसके

---

* सकपट और निष्कपट करणी का प्रत्यक्ष अन्तर यह है कि जो बड़े थे, वे लौकिक व्यवहार में स्त्रीरूप हैं, और जो छोटे थे, वे पुरुष बन कर उन्हें स्त्री बनाने की अभिलाषा कर रहे हैं।

—लेखक।

पति बनने के योग्य नहीं हैं, तो फिर किसी पुरुष की इस कन्या को वरने की इच्छा रखना व्यर्थ है। अतः तुम मेरे दरबार से चले जाओ। इस प्रकार अपमान करके कुम्भराजा ने, छहों राजा के दूतों को अपने यहाँ से निकाल दिया। निराश और अपमानित होकर छहों दूत अपने अपने राजा के यहाँ लौट गये और कुम्भराजा का उत्तर एवं व्यवहार अपने-अपने राजा को कह सुनाया। कुम्भराजा के उत्तर और दूत के प्रति किये गये व्यवहार ने, राजाओं की क्रोधाग्नि को भड़का दिया। छहों राजाओं ने आपस में सलाह करके अपमान का बदला लेने के लिए सम्मिलित बल से कुम्भराजा पर चढ़ाई करदी। छहों राजा की सेना ने चारों ओर से मिथिला को घेर लिया। कुम्भ राजा ने, शत्रुसेना को परास्त करने के लिए युद्ध भी किया, परन्तु विजय न मिली, और मिथिला के चारों ओर पड़े हुए घेरे को नष्ट न कर सके। विवश होकर उन्हें नगर में ही बन्द रहना पड़ा।

कुम्भराजा, शत्रुसेना से किस प्रकार रक्षा हो, इसी चिन्ता में पड़े र थे, इतने ही में भगवान मल्लिनाथ, पिता को वन्दन करने के लिए गये। चिन्तामग्न पिता, भगवान मल्लिनाथ के प्रति कोई कृपापूर्ण व्यवहार न दर्शा सके, तब भगवान ने, अवधिज्ञान की शक्ति से सब कुछ जानते हुए भी, कुम्भ राजा

से पूछा—पिताजी, आज आप इस प्रकार चिन्ता में क्यों पड़े हुए हैं ? कुम्भराजा, भगवान को सब वृतान्त सुनाकर कहने लगे कि कन्या किसी एक को दी जा सकती है, परन्तु इस समय छः राजा चढ़ाई करके आये हैं और नगर का घेरा डाले पड़े हैं, अतः मैं किसे तो कन्या दूँ और किसे कन्या न दूँ। भगवान ने कहा—पिताजी, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें, इन छहों राजाओं को समझाने का उपाय मैंने कर लिया है। आप प्रत्येक राजा के पास पृथक्-पृथक् दूत भेजकर छहों को, यह सूचना करा दीजिए, कि यदि आपको कन्या से ही प्रयोजन है, तो आप गुपचुप मेरे साथ चलिए। इस प्रकार छहों राजाओं को भिन्न-भिन्न रास्ते से लाकर, अशोकवाटिका में मेरे द्वारा बनवाये हुए मोहनघर में, अलग-अलग बैठा दीजिये। फिर तो मैं उन सभी को समझा दूँगी।

कुम्भराजा ने, भगवान मल्लिनाथ के कथनानुसार छहों राजाओं को बुलवाकर मोहनघर में बैठाया। पीठिका-स्थित पुतली को मल्लिकुमारी मानकर छहों राजा, अपने-अपने भाग्य की प्रशंसा करने लगे और विचारने लगे, कि पूर्व-पुण्य के योग से ही हमें ऐसी पत्नी मिलेगी। राजा लोग, अपने-अपने मन में इस प्रकार प्रसन्न हो रहे थे, इतने ही में छहों राजा का उद्धार करने के लिए, प्रतिमा के पीछे के मार्ग से भगवान मल्लिनाथ, प्रतिमा

के समीप पधारे और पुतली के मस्तक पर लगा हुआ कमलाकार सोने का ढक्कन खोल दिया। भगवान को देखकर राजा लोग यह आश्चर्य कर रहे थे कि एक ही आकृति की ये दो युवती कैसे! इतने ही में पुतली के भीतर पड़ी हुई भोजन सामग्री से उत्पन्न घोर दुर्गन्ध ढक्कन खोलने से चारों ओर फैल गई। छहों राजा, उस दुर्गन्ध से घबराये और कपड़े से नाक दबा-दबा कर, मुँह फेर लिया। उसी समय भगवान बोले कि—आप लोगों ने मेरी ओर से मुँह क्यों फेर लिया? राजाओं ने उत्तर दिया, कि दुर्गंध से प्राण घबराते हैं! भगवान ने कहा—इस स्वर्णमयी पुतली में, केवल एक-एक ग्रास उत्तम भोजन का डाला गया, जो इस दशा में परिणत हुआ और उसकी दुर्गंध आप से नहीं सही जाती, तो माता-पिता के रजवीर्य से बने हुए औदारिक शरीर की स्थिति क्या है, इसे क्यों नहीं विचारते? जो शरीर, रूप-रस, रुधिर, मांस, चर्बी, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं से बना हुआ है, जो मल का खजाना है और जिसका साथ करने से उत्तम भोज्य पदार्थ और सुगंधित द्रव्य भी मल रूप बन जाते हैं, उस शरीर के केवल ऊपरी रंग को देखकर क्यों मोह में पड़ रहे हो? अपने पूर्वभव पर ध्यान देकर, अपना कल्याण क्यों नहीं करते!

भगवान का यह उपदेश सुन कर, छहों राजाओं को जाति-

स्मृति ज्ञान हुआ और छहों राजा प्रतिबोध पाये। भगवान ने छहों कमरे के द्वार खोल दिये। छहों राजा, बाहर निकल कर, हाथ जोड़ भगवान से विनती करने और कहने लगे—हे प्रभो, आपने हमें नरक में पड़ने से बचाकर, बड़ा ही उपकार किया है। आप, पूर्वभव में भी हमारे गुरु थे और इस भव में भी हमारे गुरु हैं। आप हमारे अपराध क्षमा करें और हमें ऐसा मार्ग बतावें कि जिससे हम कल्याण कर सकें। भगवान ने उन्हें आश्वासन दिया और उनसे कहा कि—मेरी इच्छा तो अब चारित्र स्वीकार करने की है। यदि तुम्हारी भी यह इच्छा हो, तो अपने राज-पाट का प्रबंध करके चारित्र स्वीकार करो। छहों राजाओं ने, संयम लेना स्वीकार किया और राज्य का प्रबंध करने के लिए अपने-अपने नगर को लौट गये।

उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से धर्म तीर्थ प्रवर्ताने की विनती की। भगवान ने, वार्षिकदान देना प्रारम्भ कर दिया। वार्षिकदान समाप्त होने पर, कुम्भ राजा और इंद्रादि देवों ने, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया। भगवान मल्लिनाथ, जयंत शिविका में आरूढ़ हो, मिथिलापुरी के सहस्राम्र बाग में पधारे। वहाँ, भगवान ने शिविका एवं वस्त्रालंकार त्याग दिये। पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को प्रातःकाल, छट्ठ के तप में भगवान मल्लिनाथ ने, तीन सौ स्त्रियों और एक सहस्र राजा एवं राज-

परिवार के पुरुषों सहित संयम स्वीकार किया। तत्क्षण भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान मल्लिनाथ, अशोक वृक्ष के नीचे, विशुद्ध ध्यान श्रेणी पर आरूढ़ हुए। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो, भगवान ने घनघातिक कर्मों को नष्ट कर डाला और उसी रोज अपरान्ह् काल में भगवान मल्लिनाथ को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

इन्द्रादि देवों, ने, केवलज्ञान-महोत्सव मनाकर, समवशरण की रचना की। बारह प्रकार की परिषद्, भगवान की वाणी सुनने को एकत्रित हुई। राजा कुम्भ और प्रतिबुद्ध आदि छः राजा, इंद्रों के पीछे बैठे। भगवान ने, कल्याणकारिणी वाणी का प्रकाश किया। प्रतिबुद्ध आदि छः राजा, भगवान के पास संयम में प्रव-र्जित हुए और कुम्भ राजा ने, श्रावकपना स्वीकार किया।

दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ, चव्वनहजार नौ-सौ वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते और भव्यजीवों का कल्याण करते रहे। अपना निर्वाणकाल समीप जान कर भगवान मल्लिनाथ, पाँच सौ साध्वी और पाँचसौ साधु सहित, सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने, अनशन कर लिया। अन्त में, फाल्गुन शुक्ल १२ को एक मास के अनशन में भगवान, अघातिक कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

भगवान मल्लिनाथ के भिषगजी आदि अट्ठाइस गणधर थे।

चालीस हज़ार मुनि थे। पचपन हज़ार साध्वी थीं। एक लाख त्र्यासी हज़ार श्रावक थे और तीन लाख सत्तर हज़ार श्राविका थीं।

भगवान मल्लिनाथ, एकसौ वर्ष कुमारी पर्याय में रहे और चव्वनहज़ार नौसौ वर्ष केवली पर्याय में रहे। इस प्रकार भगवान मल्लिनाथ ने, सब पच्यावन हज़ार वर्ष का आयुष्य पाया और भगवान अरहनाथ, के निर्वाण को एक हज़ार क्रोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर, निर्वाण पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान मल्लिनाथ, पूर्वभव में कौन थे और किस कारण इस भव में स्त्री होना पड़ा था?

२—माता के गर्भ में भगवान, कहाँ से, कितनी आयु भोग कर पधारे थे? भगवान के माता-पिता और जन्म स्थान का नाम क्या था?

३—भगवान का नाम मल्लिनाथ क्यों हुआ?

४—भगवान, छद्मस्थावस्था में कितने काल तक रहे थे?

५—भगवान मल्लिनाथ के संघ की भिन्न-भिन्न संख्या क्या थी?

६—भगवान मल्लिनाथ की जन्म तिथि, दीक्षा तिथि, केवल ज्ञान तिथि और निर्वाण तिथि बताओ?

७—भगवान मल्लिनाथ और भगवान कुन्थुनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा?

—*—

भगवान श्री मुनिसुव्रत ।

पूर्व भव ।
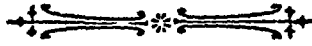
श्लोकः—

सीमान्तिनीमिवपतिः समगंस्त सिद्धिं,
निर्माय विस्मित महामुनि सुव्रतत्त्वम् ।
सोयं मम प्रतनुतात्तनुतां भवस्य,
निर्माय विस्मित महामुनि सुव्रतत्वम् ॥

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में, चम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ, सुरश्रेष्ठ राजा राज्य करता था। सुरश्रेष्ठ राजा, दानी, धर्मात्मा और वीर था। उसने लीला मात्र में सब राजाओं को अपने अधीन कर लिया था।

एक समय, नन्दन नाम के मुनि, चम्पा नगरी के उद्यान में पधारे। राजा सुरश्रेष्ठ, मुनि को वन्दन करने गया। मोह-पंक को नष्ट करने योग्य मुनि की वाणी सुनने से, राजा सुरश्रेष्ठ को प्रबल वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने, तत्काल राज-पाट आदि संसार-सम्बन्ध त्याग दिया और संयम स्वीकार कर लिया। संयम का पालन और बीस स्थानकों में से कितने ही स्थानकों की आराधना करके सुरश्रेष्ठ मुनि ने तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में, अनशन करके समाधि-पूर्वक शरीर त्याग, अपराजित विमान में बत्तीस सागरोपम का आयुष्यवाला अहमिन्द्र देव हुआ।

—o—

वर्तमान भव।

इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में, मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नाम का नगर था। वहाँ, हरिवंश कुलोत्पन्न सुमित्र

राजा राज्य करता था। हरिवंश के पद्मावती नाम की रूप गुण सम्पन्ना रानी थी।

अपराजित विमान का आयुष्य भोग कर सुरश्रेष्ठ का जीव श्रावण शुक्ल पूर्णिमा की रात को—जब चन्द्र, श्रवण नक्षत्र में था—महारानी पद्मावती के गर्भ में आया। तीर्थङ्कर के गर्भ-सूचक महास्वप्न देखकर महारानी जाग उठीं। पति से स्वप्नों का फल सुनकर वे प्रसन्न हुईं और गर्भ का पोषण करने लगीं। गर्भकाल समाप्त होने पर, ज्येष्ठ कृष्ण ८ को—जब चन्द्र, श्रवण नक्षत्र में था—महारानी पद्मावती ने, कूर्म चिन्ह युक्त श्यामवर्णी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र, दिक्कुमारियों और देवों ने, भगवान का जन्मकल्याण मनाया।

प्रातःकाल महाराजा सुमित्र ने, पुत्र जन्मोत्सव मना कर, बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा। तीनज्ञानधारक भगवान मुनिसुव्रत, बाल्यावस्था व्यतीत कर, युवावस्था को प्राप्त हुए। उस समय उनका सर्वाङ्ग सुन्दर बीस धनुष ऊँचा शरीर, बहुत ही शोभायमान मालूम होता था। महाराजा सुमित्र ने, कुमार मुनिसुव्रत से प्रभावती आदि अनेक राजकन्याओं का विवाह करा दिया। भगवान मुनिसुव्रत, अपनी पत्नियों के साथ आनन्दोपभोग करने लगे। भगवान मुनिसुव्रत की प्रधानपत्नी प्रभावती के गर्भ से एक पुत्र भी हुआ, जिसका नाम सुव्रत रखा गया।

भगवान मुनिसुव्रत जब साढ़े सात हज़ार वर्ष की अवस्था के हुए, तब महाराजा सुमित्र ने समस्त राजपाट कुमार मुनि-सुव्रत को सौंप दिया। भगवान, राज्य करते हुए प्रजा का पालन करने लगे। राज्य करते जब पन्द्रह हज़ार वर्ष बीत गये, तब भगवान ने विचार किया कि अब मेरे भोग फल देने वाले कर्म क्षय होने आये हैं, इसलिए अब मुझे राजपाट त्यागने की तयारी करनी चाहिए। भगवान ने ऐसा विचार किया, इतने ही में लोकान्तिक देवों ने, आकर भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो अब धर्म तीर्थ प्रवर्ताइये। भगवान ने उसी समय, अपने पुत्र सुव्रत को राज्य देकर वार्षिकदान प्रारम्भ कर दिया।

वार्षिकदान की समाप्ति पर, राजा सुव्रत इन्द्र और देवों ने भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया। भगवान, अपराजिता नाम्नी शिबिका में विराजकर, नीलगुहा नाम के उद्यान में पधारे। उद्यान में पहुँचकर भगवान ने, शिविका एवं आभूषणादि त्याग दिये और फाल्गुन शुक्ला १२ को श्रवण नक्षत्र में दिन के पिछले पहर में एक सहस्र राजाओं सहित छट्ठ के तप में चारित्र स्वीकार किया। चारित्र ग्रहण करते ही, भगवान को मनःपर्यय नाम का चौथा ज्ञान हुआ। भगवान, राजगृही से विहार कर गये। दूसरे दिन, ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ भगवान ने क्षीर से पारणा किया। पश्चात् भगवान, संग एवं ममत्व रहित अनेक

प्रकार के तप और अभिग्रह करते हुए ग्यारह मास तक जनपद में विचरते रहे।

विचरते हुए भगवान, राजगृही के उसी नीलगुहा उद्यान में पधारे। वहाँ, चम्पा वृक्ष के नीचे भगवान प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय भगवान ने, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से समस्त घातिक कर्मों को भस्म कर दिया, जिससे भगवान को केवल-ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुआ। भगवान को केवलज्ञान होते ही, त्रिलोक में, क्षणिक प्रकाश हुआ।

आसनकम्प से, इन्द्रादि देवों ने भगवान को केवलज्ञान हुआ जाना। उन्होंने उपस्थित होकर केवलज्ञान-महोत्सव मनाया। समवशरण की रचना हुई, जिसमें बैठ कर बारह प्रकार की परिषद् ने भगवान मुनिसुव्रत की वाणी सुनी। भगवान की वाणी सुन कर, अनेकों ने दीक्षा ली, अनेकों ने श्रावक व्रत स्वीकार किये और अनेकों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

केवली पर्याय में भगवान मुनिसुव्रत ग्यारह मास कम साढ़े सात हजार वर्ष तक जनपद में विचरते और अनेक भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अपना निर्वाणकाल समीप जान कर, एक सहस्र मुनियों सहित भगवान, सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ अनशन करके, ज्येष्ठ कृष्णा ९ को श्रवण नक्षत्र में, शैलेशी अवस्था में प्राप्त हो और चार अघातिक कर्मों का अन्त कर

भगवान मुनिसुव्रत, मोक्ष पधारें।

भगवान मुनिसुव्रत के इन्द्र कुम्भज आदि अठारह गणधर थे। तीस हज़ार मुनि थे। पचास हज़ार साध्वियाँ थीं। एक लाख बहत्तरहज़ार श्रावक थे और तीनलाख पचासहज़ार श्राविकाएँ थी।

भगवान मुनिसुव्रत, साढ़े सात हज़ार वर्ष कुमार पद पर रहे। पन्द्रह हज़ार वर्ष तक राज्य करते रहे। ग्यारह मास छद्मस्थ अवस्था में विचरे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार भगवान ने सब तीस हज़ार वर्ष का आयुष्य पाया और भगवान मल्लिनाथ के निर्वाण के छः लाख वर्ष पश्चात् सिद्ध पद प्राप्त किया।

प्रश्नः—

१—भगवान मुनिसुव्रत पूर्व भव में कौन थे ?

२—भगवान मुनिसुव्रत के जन्मस्थान और माता-पिता का नाम क्या था ?

३—भगवान मुनिसुव्रत की सब से बड़ी पत्नी का नाम क्या था ?

४—भगवान मुनिसुव्रत ने किस अवस्था में दीक्षा ली थी ?

५—भगवान की अवस्था का भिन्न-भिन्न हिसाब बताओ।

६—भगवान की जन्मतिथि, दीक्षातिथि, केवलज्ञानतिथि और निर्वाणतिथि बताओ।

७—भगवान मुनिसुव्रत के निर्वाण में और भगवान शान्तिनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा ?

भगवान श्री नमीनाथ ।

पूर्व भव ।
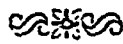
श्लोकः —

देवेन्द्र वृन्द परिसेवित सत्व दत्त,
सत्यागमो मदनमेध महानिलाभः ।
मथ्नासिनाथ रतिनाथ सुरूप रूप,
सत्यागमोऽमदनमेऽधमऽहानि लाभः ॥

इसी जम्बू द्वीप के पश्चिम महाविदेह में कौशम्बी नाम की एक नगरी थी। वहाँ सिद्धार्थ नाम का परोपकारी और गुणवान राजा राज्य करता था। समय पाकर सिद्धार्थ राजा ने, सुदर्शन मुनि के पास संयम ले लिया। संयम का निरतिचार पालन और बीसबोल में से कितने ही बोलों की आराधना करके सिद्धार्थ ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन, किया। अन्त में, समाधि-पूर्वक शरीर त्याग, सिद्धार्थ मुनि, दसवें प्राणत देवलोक में बीस सागर की आयु वाले उत्कृष्ट देव हुए।

अंतिम भव।

इसी जम्बू द्वीप के भरतार्द्ध में, मिथिला नाम की नगरी थी जो पृथ्वी पर साक्षात् अमरावती जैसी थी। वहाँ, विजयसेन नाम के राजा थे, जिनकी गुणशीलसम्पन्ना रानी का नाम वप्रा था।

सिद्धार्थ राजा का जीव, प्राणत देवलोक का आयुष्य समाप्त करके शरद पूर्णिमा की रात को जब चन्द्रका योग अश्विनी नक्षत्र के साथ हुआ उस समय वप्रादेवी की कोंख में आया। महारानी वप्रा ने चौदह महा स्वप्न देखे। स्वप्नों का यह फल सुन

-कर कि तीर्थङ्कर जन्म लेंगे, वप्रादेवी बहुत प्रसन्न हुईं और साव-धानी से गर्भ का पोषण करने लगी।

गर्भकाल समाप्त होने पर, महारानी वप्रादेवी ने, श्रावण कृष्ण ८ की रात को नीलकमल के लक्षण वाले अनुपम पुत्र को जन्म दिया। आसनकम्प से, इक्कीसवें तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान कर, इन्द्र और देवी देव ने सुमेरु गिरि पर भगवान का जन्म-कल्याण मनाया। प्रातःकाल महाराजा विजयसेन ने पुत्र जन्मो-त्सव किया।

जिस समय भगवान गर्भ में थे, उस समय विजयसेन के शत्रुओं ने मिथिलापुरी को चारों ओर से घेर लिया था। लेकिन महारानी वप्रादेवी ने महल पर चढ़ कर जैसे ही चारों ओर दृष्टि डाली, वैसे ही शत्रुदल विजयसेन के सन्मुख नम्र बन गया। इस घटना को दृष्टि में रख कर विजयसेन ने भगवान का नाम नमीनाथ रखा।

भगवान नमीनाथ, अनेक दास-दासियों के संरक्षण में वृद्धि पाने लगे। बाल्यकाल समाप्त कर भगवान, युवक हुए। युवावस्था में भगवान का पन्द्रह धनुष ऊँचा, स्वर्णकान्ति को लज्जित करनेवाला शरीर अनुपम सुन्दर मालूम होता था। माता-पिता ने, अनेक राजकन्याओं का भगवान के साथ विवाह कर दिया। भगवान अपनी पत्नियों के साथ दाम्पत्य सुख भोगने लगे।

भगवान नमीनाथ की आयु जब ढाई हजार वर्ष की हुई, तब महाराजा विजयसेन ने मिथिलापुरी का राज्य भगवान को सौंप दिया। भोगफल देने वाले कर्मों की निर्जरा करते हुए भगवान नमीनाथ, पाँच हजार वर्ष तक राज्य-सुख भोगते रहे। एक दिन भगवान आत्मचिन्तन में तल्लीन थे, इतने ही में लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान से प्रार्थना की, कि हे प्रभो, अब धर्म-तीर्थ प्रवर्ताइये। देवों की इस प्रार्थना पर से भगवान ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज-पाट सौंप दिया और स्वयं वार्षिकदान देने लगे।

वार्षिक दान की समाप्ति पर, आषाढ़ कृष्ण ९ को दिन के पिछले पहर में भगवान नमीनाथ ने, छट्ठ के तप में, एक हजार पुरुषों के साथ संयम स्वीकार किया। संयम में प्रव्रजित होते ही, भगवान को चौथा मनःपर्यय नाम का ज्ञान हुआ। भगवान, वहाँ से विहार कर गये। दूसरे दिन, दत्त राजा के यहाँ भगवान नमीनाथ का पारणा हुआ। दान की महिमा दर्शाने के लिए, देवों ने पांच दिव्य प्रकट किये।

भगवान नमीनाथ, अप्रमत्तपने से नव मास तक छद्मस्थ-अवस्था में विचरते रहे। विचरते और कर्मों की निर्जरा करते हुए भगवान, मिथिलापुरी के उसी सहस्राम्र बाग में पधारे, जिसमें भगवान ने संयम स्वीकार किया था। वहाँ मोरसली वृक्ष के नीचे, छट्ठ का तप करके भगवान, प्रतिमा धारण करके रहे।

ध्यान की तीव्रता से भगवान ने, घातिक कर्मों को क्षय कर दिया, इससे मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को अश्विनी नक्षत्र में, भगवान को अनन्त केवलज्ञान और अनन्त केवलदर्शन प्राप्त हुआ। भगवान को केवलज्ञान हुआ जानकर, इन्द्रादिक देवों ने उपस्थित हो केवलज्ञान महोत्सव मनाया। समवशरण की रचना हुई, जिसमें बैठकर द्वादश प्रकार की परिषद् ने, भगवान की दिव्यवाणी श्रवण की। भगवान की देशणा श्रवण करके अनेक भव्य जीव, प्रतिवोध पाये।

भगवान नमीनाथ, नवमास कम ढाई हज़ार वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते रहे और भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग बताते रहे। अपना निर्वाणकाल समीप जान कर, एक हज़ार मुनियों सहित भगवान नमीनाथ, सम्मेत शिखर पर पधार गये। वहाँ भगवान ने अनशन कर लिया, जो एक मास तक चलता रहा। अन्त में भगवान ने अयोगी और अलेशी अवस्था में पहुँच कर, सिद्ध पद प्राप्त किया।

भगवान नमीनाथ के, शम्भुज आदि सत्रह गणधर थे। बीस हज़ार मुनि थे। इकतालिस हज़ार साध्वियाँ थीं। एक लाख सत्तर हज़ार श्रावक थे और तीन लाख अड़तालिस हज़ार श्राविकाएँ थीं।

भगवान नमीनाथ, ढाई हज़ार वर्ष तक कुमार पद पर रहे।

पाँच हजार वर्ष तक राज्य करते रहे। नव मास छद्मस्थ-अवस्था में विचरते रहे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार दस हजार वर्ष का आयुष्य भोगकर भगवान नमीनाथ, भगवान श्री मुनिसुव्रत के निर्वाण के छः लाख वर्ष पश्चात मोक्ष पधारे।

प्रश्नः—

१—भगवान श्री नमीनाथ, पूर्व-भव में कौन थे ?

२—भगवान श्री नमीनाथ, माता के गर्भ में किस गति का कितना आयुष्य भोग कर पधारे थे ?

३—भगवान के माता-पिता और जन्मस्थान का नाम क्या था ?

४—भगवान नमीनाथ का नाम, नमीनाथ क्यों दिया गया था ?

५—भगवान नमीनाथ ने अपनी आयु किस-किस कार्य में कितनी-कितनी बिताई ?

६—भगवान नमीनाथ के तीर्थ की भिन्न-भिन्न संख्या क्या थी ?

७—भगवान नमीनाथ के निर्वाण में और भगवान मल्लिनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा था ?

भगवान श्री अरिष्टनेमि ।

पूर्व भव ।

श्लोक :—

यो रेवताख्य गिरि मूर्ध्नि तपांसि भोग,
राजीमतीत्य जनमास्वयांचकार ।
नेमिं जना नमत यो विगतन्तरारि,
राजीमतीत्य जनमास्वयांचकार ॥

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में, अचलपुर नाम का नगर था। वहाँ, विक्रमधन नाम का राजा राज्य करता था, जिसकी धारिणी नाम्नी सुशीला रानी थी।

एक रात को धारिणी रानी ने यह स्वप्न देखा कि एक आम का फूला फला हुआ वृक्ष है, जिसके लिए एक पुरुष कहता है कि यह वृक्ष पृथक्-पृथक् स्थान पर नव बार स्थापित होगा। रानी ने, यह स्वप्न अपने पति को सुनाया। राजा विक्रमधन ने स्वप्नपाठकों से रानी के स्वप्न का फल पूछा। स्वप्नपाठकों ने कहा, कि स्वप्न के प्रभाव से रानी, एक उत्कृष्ट पुत्र को जन्म देगी, परन्तु स्वप्न का आम्र-वृक्ष, भिन्न-भिन्न स्थान पर नव बार स्थापित होगा, इसका आशय हम नहीं कह सकते, केवली भगवान ही कह सकते हैं।

समय पर रानी ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। विक्रमधन ने, पुत्र का नाम धनकुँवर रखा। जब धनकुँवर युवक हुआ, तब उसका विवाह कुसुमपुर के राजा सिंहरथ की कन्या धनकुमारी के साथ हुआ।

एक समय धनकुँवर घोड़े पर बैठ, वन-क्रीड़ार्थ उद्यान में गया। वहाँ, चतुर्विध ज्ञानी वसुन्धर मुनि देशना देते थे। धनकुँवर भी देशना सुनने बैठ गया। पीछे से राजा विक्रमधन आदि भी मुनि की देशना सुनने के लिए आये। देशना की

समाप्ति पर, राजा विक्रमधन वसुन्धर मुनि से पूछने लगा कि-हे महाभाग, जब यह मेरा पुत्र धनकुमार गर्भ में था, तब इसकी माता ने स्वप्न में एक फलाफूला आम्र-वृक्ष देखा था, और स्वप्न में ही किसी ने इसकी माता से यह भी कहा था, कि यह आम्र-वृक्ष, भिन्न-भिन्न स्थान पर नव बार स्थापित होगा। स्वप्न-प्रभाव से, रानी ने इस धनकुमार पुत्र को जन्म दिया, परन्तु स्वप्न में रानी से किसी ने जो यह कहा था कि यह आम्र-वृक्ष भिन्न भिन्न स्थान पर नव बार स्थापित होगा, इसका क्या मतलब? राजा का प्रश्न सुनकर महाज्ञानी वसुन्धर मुनि ने, ध्यानस्थ हो, वहाँ से दूर विराजे हुए केवली भगवान से सम्यक्ज्ञानार्थ मन द्वारा यह प्रश्न किया, कि विक्रमधन के प्रश्न का उत्तर क्या है? केवली भगवान ने, मुनि के प्रश्न के उत्तर में, भावी तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के चरित्र की ओर इशारा किया। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान द्वारा केवली भगवान के मनोगत अपने प्रश्न के उत्तर सम्बन्धी उक्त भावों को जान कर, मुनि ने, राजा विक्रमधन से उसके प्रश्न के उत्तर में कहा, कि तुम्हारा यह धनकुमार पुत्र, इस भव के पश्चात और भव करता हुआ, नववें भव में इसी भरतक्षेत्र में अरिष्टनेमि नाम का बाईसवाँ तीर्थङ्कर होगा। यह सुनकर अपने साथियों सहित विक्रमधन बहुत प्रसन्न हुआ और मुनि को वन्दन नमस्कार करके अपने घर आया।

एक समय धनकुमार अपनी पत्नी धनवती के साथ जल-क्रीड़ा करने सरोवर पर गया था। वहाँ, धनवती ने देखा कि एक मुनि, मूर्छितावस्था में भूमि पर पड़े हुए हैं। धूप और परिश्रम के मारे उनका कण्ठ प्यास से सूख रहा है तथा फटे हुए पावों में से रक्त भी निकल रहा है। धनवती ने, अपने पति का ध्यान, मुनि की ओर आकर्षित किया। मुनि को देख कर धनकुमार, धनवती सहित मुनि के पास आया। दम्पति ने, शीतलोपचार से मुनि को स्वस्थ किया। मुनि ने, दम्पति को धर्मोपदेश दिया, जिसे सुन कर धनकुमार और धनवती ने, श्रावक व्रत स्वीकार किये। कुछ काल रह कर, वे मुनि अन्यत्र विहार कर गये।

समय देखकर, राजा विक्रमधन ने, अचलपुर का राज-पाट अपने पुत्र धनकुमार को सौंप दिया और स्वयं आत्म-कल्याण करने में लग गया। धनकुमार, राजा बन कर अचलपुर का राज्य करने लगा। पुण्य-योग से—जिनने धनकुमार के भावी भव बताये थे वे—वसुन्धर मुनि, विचरते-विचरते अचलपुर नगर में पधारे। रानी सहित महाराजा धन, मुनि को वन्दना करने गये। मुनि का उपदेश सुनकर दम्पति को संसार से विरक्ति हो गई। धन राजा और धनवती रानी ने, वसुन्धर मुनि से संयम स्वीकार कर लिया। धन राजा, संयम लेने के पश्चात् गुरु के साथ रह कर अनेक प्रकार के कठिन तप तपने लगे। वे, गीतार्थ

हुए, तब उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया गया। धन मुनि ने, अनेक भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग बताया। अन्त में अनशन द्वारा शरीर त्याग धनवती सहित धन मुनि, प्रथम-सौधर्म-देवलोक में, शक्रेन्द्र के सामानिक इन्द्र हुए।

प्रथम सौधर्म देवलोक का आयुष्य समाप्त करके, धन राजा का जीव, वैताढ्यगिरि की उत्तर श्रेणी में स्थित सूर:तेज नगर के सूर राजा की विद्युन्मति रानी के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ; जिसका नाम चित्रगति रखा गया। दूसरी ओर, इसी भरतक्षेत्र के वैताढ्यगिरि की दक्षिण श्रेणी में स्थित शिव-मन्दिर नगर के राजा अनंगसिंह की पत्नी शशिप्रभा के उदर से धनवती का जीव–प्रथम देवलोक का आयुष्य समाप्त करके–पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रत्नवती रखा गया। एक समय राजा अनंगसिंह ने किसी निमित्तिया से पूछा, कि इस रत्नवती कन्या का पति कौन होगा? निमित्तिया ने उत्तर दिया कि, जो व्यक्ति आपके पास से खड्ग रत्न लेगा और जिस पर देव, वृष्टि करेंगे, वही इस कन्या का पति होगा। निमित्तिया का यह कथन सही हुआ। चित्रगति का विवाह, रत्नवती के साथ हो गया।

सूर राजा ने, चित्रगति को राज्य सौंप कर आत्म कल्याण साधा। विद्याधर-पति चित्रगति, रत्नवती के साथ सानन्द राज-

सुख भोगने लगा। कुछ काल पश्चात् चित्रगति के एक सामन्त मणिचूल राजा का देहान्त हो गया। मणिचूल राजा के शशि और शूर नाम के दोनों पुत्र, आपस में लड़ने लगे। इन दोनों को लड़ते देखकर, चित्रगति और रत्नवती को संसार से वैराग्य हो गया। दोनों ही ने दीक्षा ले ली। चिरकाल तक व्रत और तप की आराधना करके चित्रगति का जीव, महेन्द्र कल्प में उत्पन्न हुआ और रत्नवती का जीव, चतुर्थ देवलोक में उत्पन्न हुआ।

पूर्वमहाविदेह को पद्म नाम्नी विजय में सिंहपुर नाम का नगर था। वहाँ, हरिणंदी नाम का राजा था, जिसकी रानी का नाम, प्रियदर्शना था। महेन्द्रकल्प का आयुष्य समाप्त करके चित्रगति का जीव, प्रियदर्शना के गर्भ में आया। रानी ने, शुभ स्वप्न देखा। समय पर, रानी प्रियदर्शना ने एक पुत्र प्रसव किया। हरिणंदी राजा ने, पुत्रजन्मोत्सव मनाकर, वालक का नाम अपराजित रखा। जव अपराजित, बड़ा हुआ, तब उसकी मैत्री, वचपन से साथ रहने वाले विमलवोध नाम के मन्त्री-पुत्र से हो गई।

एक वार अपराजित और विमलवोध दोनों ही मित्र, अश्वारूढ़ हो, वन में गये। वहाँ, दोनों के घोड़े, दोनों को, एक गहन जंगल में ले उड़े और रोकने पर भी न रुके। जव घोड़े स्वयं ही थक कर रुके, तव दोनों मित्र, घोड़ों पर से उतरे।

घोड़े पर से उतरकर, कुमार अपराजित ने विमलवोध से कहा कि अपने को ये घोड़े यहाँ ले आये, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। अब अपन इसी सिलसिले में पृथ्वी-पर्यटन भी कर सकेंगे। विमलवोध ने, अपराजित की वात का समर्थन किया। दोनों मित्र, भ्रमण के लिए चल दिये। भ्रमण करते हुए और भूचर[1] खेचर[2] अनेक राज-कन्याओं के साथ विवाह करते हुए दोनों मित्र, जनानन्द नगर में आये।

माहेन्द्र देवलोक का आयुष्य समाप्त करके रत्नवती का जीव इसी जनानन्द नगर के जितशत्रु राजा की रानी धारिणी के गर्भ से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम प्रीतिमती था। अपने मित्र विमलवोध सहित अपराजित कुमार जिस समय जनानन्द नगर में आया हुआ था, उस समय प्रीतिमती के लिए स्वयंवर हो रहा था। अपराजित ने, स्वयंवर में प्रीतिमती को प्राप्त किया। प्रीतिमती के साथ विवाह करके, अपने मित्र सहित कुमार अपराजित, वहुत-सी ऋद्धि के साथ अपने नगर सिंहपुर को लौटा। अपराजित कुमार को सव प्रकार से योग्य देख कर, राजा हरिणन्दी ने सिंहपुर का राज्य अपराजित को सौंप दिया और आप आत्मकल्याण करने लगा।

अपराजित राजा हुआ। एक वार वह उद्यान में गया था।

१—पृथ्वी पर रहने वाले। २—आकाश में रहनेवाले विद्याधरादि।

वहाँ उसने देखा, कि एक सार्थवाह का पुत्र दिव्यवस्त्रालंकार पहने, अपने मित्र एवं अपनी स्त्रियों सहित घूम रहा है। राजा अपराजित, उसे देख कर सन्तुष्ट हुआ और यह जान कर उसे अभिमान भी हुआ कि मेरे नगर में ऐसे-ऐसे सेठ तथा श्रीमन्त भी हैं। इस प्रकार अभिमान करता हुआ, अपराजित राजा अपने स्थान को लौट आया। दूसरे दिन, राजा फिर बाहर घूमने के लिए निकला। उस समय उसने देखा, कि चार पुरुषों से उठाया हुआ एक शव आरहा है, जिसके साथ शोकसूचक बाजा बज रहा है, और पीछे स्त्रियाँ एवं कुटुम्बी-जन हाय-हाय करके विलाप कर रहे हैं। सेवकों द्वारा राजा ने जब यह जाना कि यह शव उसी सार्थवाह-पुत्र का है, जो कल उद्यान में मिला था और जिसे देख कर मुझे प्रसन्नता हुई थी, तब राजा को संसार से घृणा हो गई। वह संसार के अनित्य-रूप को समझ गया। इसी बीच में, जनता का उपकार करते हुए, केवली भगवान, सिंहपुर नगर में पधारे। राजा अपराजित ने, भगवान का उपदेश सुना; जिससे प्रतिबोध पाकर, उसने राजपाट अपने पुत्र कुमारपद्म को सौंप दिया और स्वयं अपनी रानी प्रीतिमती तथा अपने मन्त्री आदि सहित संयम में प्रव्रजित हो गया। अन्त में, कठिन तपपूर्वक शरीर त्याग, अपराजित का जीव, आरणक देवलोक में, महाऋद्धिवन्त देव हुआ।

इसी भरतक्षेत्र के कुरुदेश में, हस्तिनापुर नगर था। वहाँ, श्रीसेन नाम का राजा था, जिसके श्रीमती नाम की पटरानी थी। अपराजित का जीव, अरणक देवलोक का आयुष्य भोग कर, श्रीमती के गर्भ में आया। श्रीमती ने स्वप्न में चन्द्र देखा। परिणामतः गर्भकाल की समाप्ति पर श्रीमती ने, शुभलक्षण–सम्पन्न पुत्रको जन्म दिया। श्रीसेन ने, पुत्रजन्मोत्सव मना कर, बालक का नाम शंखकुमार रखा। अपराजित के मित्र विमलबोध का जीव भी अरणक देवलोक का आयुष्य समाप्त करके, श्रीसेन राजा के मन्त्री गुणनिधि के यहाँ, पुत्र रूप में जन्मा; जिसका नाम मतिप्रभ हुआ। शंखकुमार और मतिप्रभ में, बाल्यकाल से ही गाढ़ी मैत्री हो गई। दोनों वृद्धि पाने लगे। उधर, अंग देशान्तर्गत चम्पानगरी के राजा जितारि के यहाँ, प्रीतिमती का जीव भी—अरणक देवलोक का आयुष्य समाप्त करके—पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम यशोमति रखा गया। यशोमति, महान् रूपवती थी, इसकारण एक विद्याधर उसे हरण करके भागा। शंखरकुमार ने, विद्याधर से यशोमति का उद्धार किया और उसका विवाह अपने साथ कर लिया।

बहुत काल तक पिता द्वारा प्राप्त राज्य का उपभोग करके अपने मंत्री आदि और अपनी रानी यशोमति सहित शंख राजा, केवली भगवान श्रीसेन के पास संयम में प्रवर्जित हो गये।

चारित्र का पालन, एवं बीस बोलों में से अनेक बोलों की आराधना करके शंख मुनि ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया और अन्त में अनशन द्वारा समाधि पूर्वक शरीर त्याग अपराजित नाम के चौथे अनुत्तर विमान में, सर्वपरमसमहर्द्धिक अहमिन्द्र हुए।

—०—◌—०—

अन्तिम भव।

इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में, यमुनातट पर, शौर्यपुर नाम का एक नगर था। वहाँ, समुद्रविजय नाम के प्रथम दशार्ह राजा राज्य करते थे। समुद्रविजय, दस भाई थे, जो दस-दशार्ह के नाम से प्रख्यात थे। ये दसों भाई, यदुवंशी थे। समुद्रविजय सब भाइयों में बड़े थे। समुद्रविजय के शिवादेवी नाम्नी रानी थीं, जो गुण और सौन्दर्य में अनुपम थीं।

अपराजित विमान में बत्तीस सागरोपम का आयुष्य समाप्त करके शंख राजा का जीव, कार्तिक कृष्णा १२ की रात को—जब चन्द्र, चित्रा नक्षत्र में आया तब—महारानी शिवादेवी की कुक्षि-कन्दरा में अवतीर्ण हुआ। सुख-शैया पर शयन किये हुई महारानी शिवादेवी ने, तीर्थङ्कर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देख कर महारानी शिवादेवी जाग उठीं! उन्होंने

महाराजा समुद्रविजय को स्वयं ने देखे हुए स्वप्न सुनादे, जिन्हें सुन कर महाराजा समुद्रविजय ने महारानी शिवादेवी से यह कहा, कि तुम महाभाग्यशाली पुत्र की माता बनोगी। यह सुन कर महारानी शिवादेवी बहुत प्रसन्न हुई, और धर्मध्यान करके शेष रात व्यतीत की।

प्रातःकाल महाराजा समुद्रविजय ने कौष्टुकी को बुलाकर, उनसे शिवादेवी के देखे हुए, स्वप्नों का फल पूछा। इतने ही में, योगायोग से एक चारण मुनि पधार गये। राजा रानी ने, चारण मुनि को वन्दन करके स्वप्नों का फल पूछा। मुनि ने उत्तर दिया कि तुम्हारे यहाँ, भगवान तीर्थङ्कर पुत्र रूप में उत्पन्न होंगे। यह कह कर मुनि पधार गये। महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी को स्वप्न—फल सुन कर बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने स्वप्न पाठकों को प्रचुर धन देकर सम्मान-पूर्वक विदा किया।

महारानी शिवादेवी, गर्भ का पालन करने लगीं। गर्भकाल समाप्त होने पर, महारानी शिवादेवी ने श्रावण शुक्ल ५ की रात को—जब चन्द्र चित्रा नक्षत्र में आया हुआ था—श्यामवर्ण और शंख के चिन्ह वाले मनोहर कान्तिधारी पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म होते ही क्षण भर के लिए त्रिलोक में प्रकाश हो गया और नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। भगवान का जन्म हुआ जान कर, छप्पन दिककुमारियों एवं

देवों सहित इन्द्रों ने, सुमेरु गिरि पर भगवान का जन्म-कल्याणोत्सव मनाया। प्रातःकाल महाराजा समुद्रविजय ने भी पुत्रजन्मोत्सव करके भगवान का अरिष्टनेमि नाम दिया। समुद्रविजय के भाई वसुदेव ने भी मथुरा में, भगवान का जन्मोत्सव मनाया। अंगुष्टामृत का पान करते हुए भगवान, अप्सराओं के पालन-पोषण में वृद्धि पाने लगे।

एक वार, वालक्रीड़ा करते हुए भगवान अरिष्टनेमि ने मोतियों को मुट्ठी में भर-भर कर इधर-उधर फेंक दिया। स्त्री-स्वभावानुसार माता शिवादेवी, इसके लिए भगवान को उपालम्भ देने लगीं। उसी समय इन्द्र ने, जिस-जिस स्थान पर भगवान द्वारा फेंके गये मोती पड़े थे, उस-उस स्थान पर, मोती के झाड़ खड़े कर दिये, जिनकी प्रत्येक डाली पर, मोतियों के गुच्छे लग रहे थे। यह देखकर महारानी शिवादेवी वहुत प्रसन्न हुईं और भगवान से कहने लगीं, कि—पुत्र, और मोती वोओ। माता की इस वात के उत्तर में भगवान ने कहा—माता, मोती समय पर ही उगते हैं। भगवान ने यह कहा, उसी समय से संसार में यह कहावत प्रचलित हो गई, कि 'समय पर वोये हुए मोती ही निपजते हैं।'

भगवान अरिष्टनेमि किशोर-अवस्था में थे, उन्हीं दिनों में मथुरा में, कृष्ण ने राजा कंस का वध किया था। कंस की रानी

जीवयशा, अपने पिता जरासंध प्रतिवासुदेव—जो तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी था—के पास गई और उसने जरासंध को यादवों के विरुद्ध उकसाया। जरासन्ध ने अपना दूत महाराज समुद्रविजय के पास भेज कर उसके द्वारा राम और कृष्ण की माँग की। समुद्रविजय ने, राम और कृष्ण को भेजने से इनकार कर दिया। परिणामतः विरोध ने ज़ोर पकड़ा। समुद्रविजय ने नैमित्तिक से पूछा, तो उसने यह कहा, कि इस समय यदुवंशियों का कल्याण, शौर्यपुर छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर जाने में ही है। नैमित्तिक की बात मान कर, महाराजा समुद्रविजय, उग्रसेन सहित अठारह क्रोड़ यदुवंशियों को लेकर शौर्यपुर से निकल पड़े। सब यादव, सौराष्ट्र में आये। सौराष्ट्र में, जहाँ यादवों का पड़ाव हुआ, वहाँ श्रीकृष्ण ने अष्टम तप करके देवता का स्मरण किया। स्मरण करते ही, लवणसुष्टि देव, कृष्ण के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण ने उससे कहा, कि हम लोगों को रहने के लिए स्थान चाहिए। लवणसुष्टि देव ने उत्तर दिया, कि मैं अभी इन्द्र को आपकी बात से परिचित करता हूँ।

लवणसुष्टि देव, तत्काल सौधर्म-पति इन्द्र के पास उपस्थित हुआ और सब वृत्तान्त उन्हें सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर इन्द्र ने कहा, कि यादवों में कृष्ण बलराम और भगवान अरिष्टनेमि ऐसे तीन लोकोत्तर पुरुष हैं, यदि ये चाहें तो एक क्षण में ही त्रिलोक

को जीत सकते हैं, फिर भी ये, समय की प्रतीक्षा करते हैं, असमय में कोई काम नहीं करना चाहते। यह कह कर इन्द्र ने, वेसमण धनपति देव को यादवों के लिए एक नगरी निर्माण करने की आज्ञा दी। इन्द्र की आज्ञा पाकर अनेक देव, नगरी की रचना करने में लग गये और रात-ही-रात में बारह योजन लम्बी नव योजन चौड़ी साक्षात देवलोक जैसी नगरी बना डाली। प्रातःकाल यादव लोग देखते हैं, कि उनके लिए एक रम्य नगरी तयार है। समस्त यादवों ने, उस नवप्रणीता नगरी में प्रवेश किया और उसमें बस गये। उस स्वर्ण के कोट और रत्न के कँगूरे वाली नगरी का नाम द्वारका रखा गया। श्रीकृष्ण वासुदेव को उस नगरी का राजा बनाया गया।

मगधाधिप जरासन्ध ने श्रीकृष्ण और द्वारका का समाचार सुना। उसने द्वारका पर चढ़ाई कर दी। श्रीकृष्ण भी, युद्ध की तयारी करके जरासन्ध का सामना करने के लिए चले। भगवान अरिष्टनेमि भी श्रीकृष्ण की सेना में सम्मिलित हुए। भगवान के लिए शक्रेन्द्र ने अपना देवनिमि रथ, मातलि सारथी और दिव्य अस्त्र-शस्त्र सहित भेजा। शक्रेन्द्र के भेजे हुए रथ में भगवान विराजे। यद्यपि अकेले भगवान अरिष्टनेमि ही त्रिलोक पर विजय प्राप्त कर सकते थे, लेकिन वे दयालु होने के साथ ही इस बात को भी जानते थे, कि प्रतिवासुदेव का पराजय, वासुदेव द्वारा ही

होता है। इसलिए भगवान ने, आवश्यकता होने पर जरासन्ध की सेना के किसी रथ की ध्वजा, किसी सैनिक का शस्त्र और किसी सेनापति का मुकुट तो अवश्य गिराया, परन्तु एक भी मनुष्य का वध नहीं किया। पश्चात जब श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मार डाला और उसकी सेना के राजा, राजकुमार आदि घबराने लगे, तब भगवान ने, समस्त भयभीत लोगों को आश्वासन देकर, अभयदान दिया।

भगवान अरिष्टनेमि जब युवक हुए, तब महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी, भगवान से विवाह करने का आग्रह करने लगीं। भगवान, माता-पिता के आग्रह को टालते रहते, और जब अधिक आग्रह होता, तब यह कह दिया करते कि मेरे योग्य कन्या मिलने पर मैं उससे सम्बन्ध जोड़ लूंगा। इसी प्रकार बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। उधर यशोमति रानी का जीव, अपराजित विमान का आयुष्य समाप्त करके, मथुरेश महाराजा उग्रसेन की रानी धारिणी के गर्भ से कन्या रूप में उत्पन्न हुआ। उग्रसेन और धारिणी ने, कन्या का नाम राजमती रखा। उत्कृष्ट रूपवाली राजमती, समय पर बड़ी हुई और अपनी सुन्दरता से सब को पराजित करने लगी।

एक समय भगवान अरिष्टनेमि, अन्य यादवकुमारों के साथ घूमते हुए, श्रीकृष्ण वासुदेव की आयुधशाला में पहुँच गये।

आयुधशाला में सुदर्शनचक्र, सारङ्ग धनुष, कौमुदकी गदा और पांचजन्य शंख आदि कृष्ण के आयुध रखे हुए थे। इन आयुधों का उपयोग, श्रीकृष्ण के सिवा और कोई नहीं कर सकता था। भगवान अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण के इन आयुधों को लेने लगे, तब आयुधागार—रक्षक ने, भगवान से प्रार्थना की, कि—हे प्रभो, इन आयुधों का उपयोग करना तो दूर रहा, श्रीकृष्ण के सिवा और कोई व्यक्ति इन्हें हाथ लगाकर उठाने में भी समर्थ नहीं है। कृपया आप इन्हें उठाने का प्रयास न करें। आयुधागार-रक्षक की बात सुनकर, भगवान कुछ मुसकराये और पांचजन्य शंख उठाकर बजाने लगे। पांचजन्य की गगनभेदी ध्वनि से, द्वारका के महल पर्वत आदि कम्पायमान हो उठे। श्रीकृष्ण राम और दशार्हादि भी आश्चर्य करने लगे। कृष्ण विचारने लगे, कि क्या कोई चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं, या इन्द्र पृथ्वी पर आये हैं, जो यह ध्वनि हुई है! इतने ही में कृष्ण को यह समाचार मिला कि आयुधागार में श्री अरिष्टनेमि कुमार ने, पांचजन्य शंख बजाया है। अन्य राजाओं सहित कृष्ण, आयुधागार में आये। वहाँ देखते हैं, कि अरिष्टनेमिकुमार, अन्य यादवकुमारों के साथ खड़े हुए हैं और शारङ्ग धनुष हाथ में लेकर उसे टंकार रहे हैं। यह देखकर श्रीकृष्ण को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने, कुमार

अरिष्टनेमि से कहा, कि मैं तुम्हारी भुजाओं का वल देखना चाहता हूँ। कुमार अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण की यह बात स्वीकार की। श्रीकृष्ण और कुमार अरिष्टनेमि अखाड़े में आये। यह समाचार सुन कर, समस्त यादव एवं द्वारका के नागरिक, अखाड़े के आस-पास एकत्रित हो गये।

अखाड़े में खड़े होकर, श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा ऊपर को उठा, भगवान श्री अरिष्टनेमि से कहा, कि मेरी भुजा को झुकाओ। भगवान अरिष्टनेमि ने, श्रीकृष्ण की भुजा को एक अंगुली मात्र से कमलनाल की तरह सहज ही झुका दी। यह देख कर श्रीकृष्ण सहित सब लोग बहुत विस्मय पाये। पश्चात् भगवान श्री अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा ऊपर उठाई और श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि भगवान की भुजा को झुकाने लगे। श्रीकृष्ण ने बहुत वल लगाया, यहाँ तक कि अपने दोनों हाथ से भगवान अरिष्टनेमि की भुजा झुकाने लगे, परन्तु श्रीकृष्ण इसमें सफल न हुए। अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि की भुजा को न झुका सके। तब श्रीकृष्ण, बहुत क्षोभ पाये और अपने मन में कहने लगे, कि ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण ही कुमार अरिष्टनेमि इस प्रकार वल-सम्पन्न हैं, अतः किसी प्रकार इनका विवाह कर देना अच्छा है।

श्रीकृष्ण ने महल में आकर अपनी रानियों से कहा, कि किसी प्रकार कुमार अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कराओ।

यह सुनकर रानियों ने श्रीकृष्ण से कहा, कि इस समय वसन्त-ऋतु है, अतः आप फाग खेलने की तयारी कराइये, फिर हम देवरजी से विवाह करना स्वीकार करा लेंगी। फाग की समस्त तयारी करके परिवार सहित श्रीकृष्ण, कुमार अरिष्टनेमि को साथ लेकर, रेवतगिरि पर आये। वहाँ सब स्त्री-पुरुष नन्दनवन में क्रीड़ा करने लगे। क्रीड़ा करती हुई सत्यभामा रुक्मिणी आदि कृष्ण की पटरानियों ने, भगवान अरिष्टनेमि से—काम जागृति के लिए—युक्तिपूर्ण अनेक बातें कहीं, और हर प्रकार की चेष्टा भी की, परन्तु भगवान अरिष्टनेमि, ब्रह्मचर्य से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। निराश होकर, वे, भगवान से प्रार्थना करके कहने लगीं, कि यदुवंशोत्पन्न एक-एक साधारण वीर के भी अनेक अनेक पत्नियाँ हैं, लेकिन आप श्रीकृष्ण के भाई होकर भी स्त्री-रहित ही रहते हैं, यह श्रीकृष्ण के लिए लज्जा दिलानेवाली बात है। अतः आपको अवश्य ही अपना विवाह करना चाहिए। श्रीकृष्ण की रानियों की निराशा और उनकी दीनता देखकर, भगवान को बहुत दया आई। वे, किंचित् मुसकराये। भगवान को मुसकराते देख कर, कृष्ण की रानियों ने सब पर यह प्रकट कर दिया, कि देवर जी ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है। यह सुन कर, समुद्रविजय, श्रीकृष्ण आदि बहुत प्रसन्न हुए।

श्रीकृष्ण, कुमार अरिष्टनेमि के योग्य कन्या की चिन्ता करने

लगे। तब सत्यभामा ने श्रीकृष्ण से कहा, कि देवरजी के योग्य कन्या, मेरी बहन राजमती है। यदि आप राजमती के लिए प्रयत्न करें तो आपकी चिन्ता दूर हो सकती है। सत्यभामा की बात मान कर, श्रीकृष्ण ने, महाराजा उग्रसेन के पास दूत भेजा और अरिष्टनेमि के लिए राजमती की याचना की। उग्रसेन ने, श्रीकृष्ण की याचना स्वीकार करके कहा, कि मैं राजमती को, विवाह से पहले द्वारका नहीं भेज सकता, यदि श्रीकृष्णजी, बारात सहित अरिष्टनेमि को लेकर मथुरा आवें, तो मैं राजमती का विवाह अरिष्टनेमि के साथ कर सकता हूँ। दूत ने लौट कर श्रीकृष्ण को उग्रसेन का कथन सुनाया। श्रीकृष्ण ने, उग्रसेन की बात स्वीकार की और विवाह-तिथि नियत करके बारात की तयारी करने लगे।

भगवान श्री अरिष्टनेमि, अवधिज्ञान द्वारा यह जानते थे, कि अभी मेरे भोग-फल देने वाले कर्म का कुछ अंश शेष है, जिनसे निवर्तना आवश्यक है। इसलिए उनने श्रीकृष्ण द्वारा की जाने वाली विवाह सम्बन्धी प्रवृत्ति का विरोध नहीं किया, किन्तु मौन रहे।

बारात की तयारी हुई। भगवान अरिष्टनेमि को स्नानादि करा कर और दूल्हे के योग्य अनुपम वस्त्र पहना कर, मौर बाँध दूल्हा बना हाथी पर बैठाया गया। समुद्रविजयादि दसों

दशार्ह, बलराम और श्रीकृष्ण वासुदेव आदि समस्त यदुवंशी, ससैन्य, बारात के रूप में धूम-धाम से भगवान अरिष्टनेमि के साथ चले।

बारात विदा हुई। इस अवर्णनीय बारात को देवता लोग भी देखने लगे। बारात को देखकर, सौधर्मेन्द्र साश्चर्य विचारने लगे कि पूर्व तीर्थङ्करों के कथनानुसार, इन बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान अरिष्टनेमि को बालब्रह्मचारी रहकर दीक्षा लेनी चाहिए थी, परन्तु इस समय तो इसके विपरीत कार्य होने जा रहा है? यानी बालब्रह्मचारी रहने के बदले भगवान अरिष्टनेमि, विवाह करने जा रहे हैं! इस प्रकार आश्चर्य में पड़कर, सौधर्मेन्द्र ने अवधि-ज्ञान में देखा, तब यह जानकर उनका आश्चर्य मिटा, कि भग-वान अरिष्टनेमि, बालब्रह्मचारी ही रहेंगे, यह विवाह-रचना, केवल कृष्ण की लीला है। अवधिज्ञान द्वारा इस प्रकार जान कर, सौधर्मेन्द्र, ब्राह्मण का रूप बना श्रीकृष्ण के आगे आ खड़े हुए, और सिर धुनकर श्रीकृष्ण से कहने लगे, कि आप किस ज्योतिषी के बताये हुए लग्न में विवाह करने जा रहे हैं! आप, जिस लग्न में अरिष्टनेमि का विवाह करने जा रहे हैं, उस लग्न में अरिष्टनेमि का विवाह होना असम्भव-सा प्रतीत होता है! ब्राह्मण की बात सुन कर, श्रीकृष्ण क्रुद्ध हो ब्राह्मण से कहने लगे, कि—आप यह कहने के लिए किसके आमन्त्रण पर आये

हैं ! आप अपने घर जाइये। श्रीकृष्ण को क्रुद्ध देखकर, ब्राह्मण-वेशधारी सौधर्मेन्द्र यह कह कर वहाँ से अदृश्य हो गये, कि 'आप, अरिष्टनेमि का विवाह कैसे करते हैं, यह मैं भी देखता हूँ !'

चलते-चलते बारात, मथुरा के समीप आई। चारों ओर के लोग, बारात देखने के लिए दौड़ आये। राजमती की सखियाँ, राजमती से कहने लगीं—सखी, तू बहुत बड़भागिनी है, इसीसे अरिष्टनेमि ऐसे उत्तम पुरुष तेरे लिए बारात सजाकर आये हैं। सखियों की बात सुन कर राजमती बहुत हर्षित हुई। वह भी, महल के झरोखे से बारात देखने लगीं, और दूल्हा बने हुए भगवान अरिष्टनेमि को देख कर प्रसन्न होने लगीं। इतने ही में राजमती की दाहिनी भुजा और दाहिनी आँख फड़क उठी। इस अपशकुन के होते ही राजमती की प्रसन्नता, चिन्ता में परिणत हो गई। वह अपनी सखियों से अपशकुन बता कर कहने लगीं कि जिन्हें देख कर मैं प्रसन्न हो रही हूँ, और जिनके कारण तुम मुझे बड़भागिनी कह रही हो, उनके साथ विवाह होने में अवश्य ही किसी विघ्न की आशंका है ! सखियाँ, राजमती को धैर्य देकर कहने लगीं कि तुम अकारण ही विघ्न की आशंका न करो, कुमार अरिष्टनेमि के साथ तुम्हारा विवाह सानन्द होगा।

रथारूढ़ भगवान अरिष्टनेमि सहित बारात, महाराजा उग्रसेन के महल के सामने आई। उसी समय भगवान अरिष्टनेमि को

पशु-पक्षियों की करुणापूर्ण चीत्कार सुनाई दी। पशु-पक्षी, अपनी भाषा में भगवान से यह कह रहे थे, कि—हे प्रभो ? हम दुःखियों की रक्षा करने वाले आप ही हैं।। यद्यपि भगवान अरिष्टनेमि सब कुछ जानते थे, फिर भी उन्होंने सारथी से पूछा, कि—हे सारथी, इन सुख के अभिलाषी पशु-पक्षियों को यहाँ बाड़े में क्यों घेर रखा है ? और यह लोग इस प्रकार आरतनाद क्यों कर रहे हैं ? सारथी ने उत्तर दिया, कि आपके विवाहोपलक्ष्य में जो भात की रसोई दी जावेगी, उसमें बननेवाले माँस के लिए इन पशु-पक्षियों को बाड़े पींजरे में बन्द किया गया है और मरने के भय से भीत होकर ये सब चिल्ला रहे हैं। सारथी की बात सुन कर, करुणानिधान भगवान अरिष्टनेमि ने, संसार के सामने जीवरक्षा और भय-भीत को अभयदान देने का आदर्श रखने के लिए, सारथी से कहा कि—हे सारथी, इन जीवों की हिंसा, परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकती, अतः तुम इन दुःखी जीवों को बन्धनमुक्त कर दो।

भगवान की आज्ञा मान कर, सारथी ने, बाड़े और पींजरे में घिरे हुए समस्त पशु पक्षिओं को खोल दिया। सारथी के कार्य से प्रसन्न होकर भगवान ने उसे मुकुट के सिवा अपने समस्त आभूषण पुरस्कार में दे दिये और साथ ही, रथ वापस लौटाने की आज्ञा दी। भगवान की आज्ञा से सारथी ने, रथ

वापस लौटा दिया। दूल्हे का रथ लौटता देख, श्रीकृष्ण, समुद्र-विजय आदि, भगवान अरिष्टनेमि के सामने जाकर उनसे कहने लगे, कि आपने करुणा करके पशु-पक्षियों को बन्धन मुक्त कर दिया, यह तो अच्छा ही किया, लेकिन अब वापस क्यों लौट रहे हैं ! आप, वापस न लौटिये, किन्तु चल कर उग्रसेन की कन्या के साथ विवाह करिये। सब की बात के उत्तर में, भगवान कहने लगे, कि—आप मुझे जिस सम्बन्ध में जोड़ना चाहते हैं, मैं उससे पवित्र और विशाल सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ। मैं, किसी एक को ही अपना नहीं बनाना चाहता, न स्वयं ही किसी एक का रहना चाहता हूँ, किन्तु संसार के समस्त प्राणियों से प्रेम-सम्बन्ध जोड़ कर, मैं सभी का बनना चाहता हूँ। इसके सिवा, अब मेरे भोग-फल देने वाले कर्म भी शेष नहीं हैं, अतः आप अधिक कुछ न कहिये। यह कह कर रथारूढ़ भगवान, आगे बढ़ गये और द्वारका के लिए चल पड़े। भगवान अरिष्ट-नेमि को जाते देख कर, दसों दशार्ह, कृष्ण, आदि यादव भी निराश हो, द्वारका को लौट गये।

भगवान अरिष्टनेमि द्वार पर से लौट गये आदि वृत्तान्त जब राजमती ने सुना, तब वे, मूर्छित होकर काटी हुई लता के समान भूमि पर गिर पड़ीं। दासियों ने शीतलोपचार द्वारा राजमती की मूर्छा दूर की, और राजमती से कहने लगीं, कि—हे सखी,

अच्छा हुआ जो निर्मोही अरिष्टनेमि, विवाह होने से पहले ही तुम्हें छोड़कर चले गये। यदि तुम्हारा पाणिग्रहण करके फिर तुम्हें छोड़ जाते, तो तुम्हें महान् कष्ट भोगना पड़ता और तुम कहीं की भी न रहतीं। अब तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो, हम महाराजा से निवेदन करेंगी, कि वे और किसी अच्छे रूप, कुल, गुण और बलसम्पन्न राजकुमार के साथ तुम्हारा विवाह करें। सखियों की बात, राजमती को ऐसी अप्रिय मालूम हुई, कि उनने अपने कानों को उँगली से बन्द कर लिया और फिर सखियों से कहने लगीं—सखियो, तुम किसी और के साथ विवाह करने की तो बात ही मत करो। यह काम तो कुल्टाओं का है। मैं, अरिष्टनेमि को अपना पति मान चुकी हूँ, इसलिए उनके सिवा और सब पुरुष मेरे पिता-भ्राता के समान हैं। राजमती का उत्तर सुन कर, सखियाँ कहने लगीं, कि तुम धैर्य धरो, हम ऐसा प्रयत्न करेंगी, कि जिससे कुमार अरिष्टनेमि फिर लौटकर आवें।

द्वारका पहुँच कर भगवान अरिष्टनेमि, संसार से विरक्त हो आत्मचिन्तन करने लगे। इसी समय, ब्रह्मकल्पवासी लोकान्तिक देव उपस्थित होकर भगवान से प्रार्थना करने लगे, कि—हे प्रभो, अब तीर्थ प्रवर्ता कर, भव्य जीवों के कल्याण का द्वार खोलिये। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान अरिष्टनेमि, वार्षिक-

दान देने लगे।

वार्षिकदान की समाप्ति पर, इन्द्र तथा देवता, भगवान का दीक्षामहोत्सव करने के लिए उपस्थित हुए। दीक्षाभिषेक के पश्चात् भगवान, उत्तरकुरु नाम की शिविका में आरूढ़ हुए। दिव्य एवं मानवी वाद्यों के बीच, शिविकारूढ़ भगवान अरिष्ट-नेमि, गिरनार पर्वत की तराई में सहस्राम्र नाम के बाग में पधारे। श्रीकृष्ण, बलराम, समुद्रविजय आदि दसों दशार्ह एवं समस्त यादव लोग भी, जयजयकार करते हुए भगवान के साथ सहस्राम्र बाग में आये। सहस्राम्र बाग में पहुँचकर भगवान, पालकी से उतर पड़े और शरीर पर के वस्त्राभूषण भी त्याग दिये। पश्चात् श्रावण शुक्ला ६ को—जब चन्द्र चित्रा नक्षत्र में आया—छट्ठ के तप में भगवान अरिष्टनेमि ने एक सहस्र पुरुषों के साथ संयम स्वीकार किया।

दीक्षा स्वीकार करते ही भगवान अरिष्टनेमि को मनःपर्यय नाम का चौथा ज्ञान प्राप्त हुआ। क्षण भर के लिए नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। भगवान ने, चातुर्मास में दीक्षा ली थी, और चातुर्मास में साधु लोग विहार नहीं करते हैं, इसलिए भगवान अरिष्टनेमि, गिरनार पर्वत पर पधार गये। दूसरे दिन, वरदत्त ब्राह्मण के यहाँ परमान्न से भगवान का पारणा हुआ। दान की महिमा दर्शाने के लिए देवों ने, पाँच दिव्य प्रकट किये।

भगवान अरिष्टनेमि, चव्वन दिन तक छद्मस्थ-अवस्था में रहे और आत्मध्यान में रमण करते रहे। एक दिन भगवान गिरनार पर्वत की तराई में स्थित, उसी सहस्राम्र बाग में पधारे, जिसमें भगवान ने संयम स्वीकार किया था। वहाँ अष्टम तप में, ध्यानस्थ भगवान, शुक्लध्यान में पहुँच कर, क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए और फिर घातिककर्मक्षय करके, आश्विन कृष्णा अमावस्या को भगवान ने अनन्त केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त किया।

आसनकम्प से, भगवान को केवलज्ञान हुआ जान कर, अच्युतादि इन्द्र और असंख्य देवी देव, केवलज्ञानमहोत्सव करने के लिए उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण समुद्रविजय आदि भी भगवान को वन्दन करने के लिए आये। समवशरण की रचना हुई, जिसमें बैठकर द्वादश प्रकार की परिषद ने भगवान की वाणी सुनी। भगवान की वाणी सुन कर, अनेक भव्य जीव प्रतिबोध पाये। राजा वरदत्त को संसार से विरक्ति हो गई। भगवान ने, राजा वरदत्त को दीक्षा देकर त्रिपदी का उपदेश किया और गणधर पद पर नियुक्त किया।

भगवान तो संयम में प्रव्रजित हो गये, परन्तु राजमती, भगवान के दर्शन की अनुरागिनी बन कर, आशा में ही दिन विताने लगीं। इसी प्रकार जब एक वर्ष बीत गया और भगवान की ओर से राजमती की कोई खबर नहीं ली गई, तब राजमती

बहुत निराश हुईं। इतने में ही उन्होंने यह सुना कि जिन्हें मैं अपना पति बनाना चाहती थी, वे अरिष्टनेमि तो संयम में प्रव्रजित हो गये। अब राजमती को, भगवान अरिष्टनेमि पति रूप में कभी मिलेंगे, यह आशा किंचित् भी न रही। वे, विचारने लगीं, कि भगवान अरिष्टनेमि मुझे इस प्रकार बीच ही में छोड़ गये, इसका कारण क्या है! प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध परिणामों के कारण राजमती को जातिस्मृतिज्ञान हुआ। अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त जान कर, राजमती, भगवान अरिष्टनेमि के लिए कहने लगीं, कि हे प्रभो, आप मुझे चाहे त्याग दें, परन्तु मैं आपको कदापि नहीं त्याग सकती। अब, मैं भी आपका ही अनुसरण करूँगी और आपकी ही तरह संसार त्याग, आपकी शिष्या बनूँगी!

राजमती ने, अपने सब शृङ्गार त्याग दिये। वे, दीक्षा लेने के लिए तयार हुईं। उनका साथ देने के लिए, सात सौ राज-कन्याएँ एवं स्त्रियाँ भी तयार हुईं। अपनी सात सौ साथिनियों सहित राजमती, द्वारका आईं और वहाँ से भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने को गिरनार पर्वत के लिए चलीं। मार्ग में, आँधी पानी के प्रकोप से, राजमती की साथिनी राजमती से बिछुड़ गईं। राजमती अकेली ही रह गईं। राजमती के वस्त्र, जल से भीग गये थे। वे, गिरनार की एक गुफा में आईं। यह गुफा

निर्जन एवं एकान्त में है, ऐसा समझ कर राजमती ने अपने शरीर के समस्त वस्त्र गुफा में इधर उधर फैला दिये।

राजमती, अनुपम रूपवती थीं। उनके रूप लावण्य का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में, विद्युत्प्रकाश और मणिप्रभा की उपमा दी है। राजमती के तेजोमय रूप से गुफा में प्रकाश-सा हो गया। उसी गुफा में, भगवान अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि जी—जो भगवान के साथ ही संयम में प्रवर्जित हुए थे—ध्यान करके खड़े थे। राजमती ने, मुनि रथनेमि को नहीं देखा था, परन्तु रथनेमि ने, राजमती को देख लिया। राजमती के रूप लावण्य को देख कर, रथनेमिमुनि का चित्त विचलित हो उठा। उन्होंने संयम की मर्यादा त्याग कर राजमती से भोग की याचना की। पुरुष की बोली सुनकर, और पुरुष को सामने देख कर राजमती, विस्मित, लज्जित एवं भयभीत हुईं। वे अपने शरीर को गोप कर बैठ गईं और भय के मारे काँपने लगीं। राजमती को भयभीत देखकर, रथनेमि, अपना परिचय देते हुए राजमती को धैर्य देने लगे और कहने लगे, कि डरने की आवश्य-कता नहीं है। राजमती को यह जान कर धैर्य हुआ, कि यह पुरुष और कोई नहीं है, किन्तु भगवान अरिष्टनेमि के लघुभ्राता और मेरे देवर ही हैं। उन्होंने, रथनेमि को फटकारते हुए उचित उपदेश दिया, जिससे रथनेमि संयम पर दृढ़ हुए।

रथनेमि के चित्त की विचलितता मिटा कर, राजमती, वस्त्र पहन आगे बढ़ीं। आगे जाते हुए उन्हें उनकी बिछुड़ी हुई सखियाँ भी मिल गईं। राजमती, अपनी सखियों सहित भगवान की सेवा में उपस्थित हुईं और दीक्षा ग्रहण करके चालीस सहस्र सतियों की नायिका बनीं।

भगवान अरिष्टनेमि, लगभग सात सौ वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते रहे। उनके वरदत्त आदि अनेक गणधर थे। अठारह सहस्र मुनि थे। चालीस सहस्र सतियाँ थीं। एक लाख उन्हत्तर हज़ार श्रावक थे और तीन लाख इंचालीस हज़ार श्राविका थीं।

अपना निर्वाणकाल समीप जान कर, भगवान अरिष्टनेमि, पाँच सौ छत्तीस मुनियों को साथ लेकर, रेवतगिरि पर, पधार गये। वहाँ भगवान ने अनशन कर लिया, जो एक महीने तक चलता रहा! अन्त में, आषाढ़ शुक्ला ८ को चित्रा नक्षत्र में संध्या समय भगवान अरिष्टनेमि, सब कर्मों का अन्त करके मोक्ष पधारे।

भगवान अरिष्टनेमि, तीन सौ वर्ष तक कुमारावस्था में रहे। चव्वन दिन, छद्मस्थ-अवस्था में विचरते रहे। शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार भगवान ने सब एक हज़ार वर्ष का आयुष्य भोगा और भगवान नमीनाथ के निर्वाण को पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर निर्वाण प्राप्त किया।

प्रश्न :—

१—भगवान श्री अरिष्टनेमि के कितने पूर्व-भव का वृत्तान्त जानते हो ? संक्षिप्त में बताओ ?

२—भगवान अरिष्टनेमि के माता-पिता का नाम क्या था ?

३—भगवान अरिष्टनेमि, माता शिवादेवी की कोंख में किस गति से कितना आयुष्य भोग कर आये थे ?

४—भगवान अरिष्टनेमि के बाल्यकाल की कोई विशेष घटना आपको मालूम है ?

५—भगवान अरिष्टनेमि का जन्म कहाँ हुआ था, उनका बाल्यकाल कहाँ व्यतीत हुआ और फिर वे कहाँ रहे थे ?

६—द्वारका नगरी के निर्माण का क्या कारण था ?

७—भगवान अरिष्टनेमि का विवाह किसने, किस घटना को दृष्टि में रखकर और किस के साथ रचाया था ?

८—भगवान अरिष्टनेमि और सती राजमती का कितने भव से साथ था ?

९—राजमती के साथ विवाह करने के लिए भगवान बारात जोड़कर गये और फिर बिना विवाह किये ही क्यों लौट आये ?

१०—जब भगवान अरिष्टनेमि के साथ राजमती का विवाह नहीं हुआ था, तब राजमती अपना विवाह किसी दूसरे पुरुष के साथ कर सकती थीं, या नहीं ? यदि कर सकती थीं, तो

क्यों नहीं किया ? और क्या दूसरे के साथ विवाह न करने का उनका बताया हुआ कारण उचित था ?

११—भगवान अरिष्टनेमि की जन्मतिथि, दीक्षातिथि, केवलज्ञानतिथि और निर्वाणतिथि बताओ ?

१२—राजमती और रथनेमि के बीच में कौन-सी घटना किस प्रसंगवश घटी थी और क्या परिणाम निकला ?

१३—भगवान अरिष्टनेमि के तीर्थ की भिन्न-भिन्न संख्या क्या थी ?

१४—भगवान अरिष्टनेमि ने कितनी आयु भोगी और किस-किस प्रकार ?

१५—भगवान अरिष्टनेमि के निर्वाण में और भगवान मुनिसुव्रत के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा ?

भगवान श्री पार्श्वनाथ।

पूर्व भव।

श्लोकः—
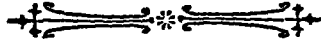
श्री पार्श्वयक्ष पतिना परिसेव्यमानं,
पार्श्वे भवामितर सादरलाङ्ग लाभे।
इन्दीवरेऽलिरिव रागमना विनीले,
पार्श्वं भवामि तरसादरलाङ्ग लाभे॥

इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में, पोतनपुर नाम का एक नगर था। वहाँ अरविन्द नाम का प्रतापी और जैनधर्म परायण राजा था। अरविन्द के एक विश्वभूति नाम का पुरोहित था, जो श्रावक था। विश्वभूति की अनुद्धरा पत्नी से कमठ और मरुभूति नाम के दो पुत्र हुए। योग्य होने पर विश्वभूति ने, कमठ का विवाह वरुणा और मरुभूति का विवाह वसुन्धरा के साथ कर दिया।

अपना अवसान समीप जानकर, विश्वभूति पुरोहित, अन-शन करके शरीर त्याग, देवलोक को गया। मरुभूति की स्त्री अनुद्धरा भी, पति-वियोग से दुःखित हो, नवकार मन्त्र का जाप करती हुई शरीर छोड़ गई। कमठ और मरुभूति, माता-पिता विहीन हो गये। दोनों भाइयों में से कमठ नाम का बड़ा भाई तो अपने पिता का कार्य–उपरोहिती-करने लगा और छोटा भाई मरुभूति, विषय भोग से विमुख हो, पौषधादि धर्मक्रिया करता हुआ यह भावना करने लगा, कि मैं कब गुरु के समीप रहकर सर्वसावध योग का त्याग करूँ!

कमठ, स्वच्छन्द हो गया था, इस कारण उसमें समस्त दुर्गुण निवास करने लगे थे। वह, परदारगामी और जुआरी भी था। मरुभूति की स्त्री वसुन्धरा, युवती होने के कारण विषयाभिला-षिणी थी। कमठ और वसुन्धरा में अनुचित प्रेम-सम्बन्ध हो

गया। इन दोनों का यह सम्बन्ध, कमठ की स्त्री वरुणा को मालूम हुआ। वरुणा ने, इस भेद को मरुभूति से प्रकट कर दिया। मरुभूति ने स्वयं भी पता लगाया, तो उसे वरुणा की कही हुई बात सत्य मालूम हुई। उसने, कमठ का यह अन्याय राजा अरविन्द के सामने कहा। राजा ने, कमठ को—पुरोहित-पुत्र होने के कारण अवध्य समझकर—नगर से बाहर निकाल दिया। कमठ, इस अपमान से बहुत दुःखी हुआ, परन्तु विवश था। वह, मन मसोस कर, तापसों के पास गया और स्वयं भी तापस बन कर, अज्ञानतप करने लगा।

कमठ के चले जाने के पश्चात् मरुभूति ने विचार किया, कि मेरे भाई कमठ ने मेरा जो अपराध किया था, उसकी अपेक्षा मैंने कमठ का अधिक अपराध किया है। क्योंकि मैंने ही राजा से फरियाद करके कमठ को नगर से बाहर निकलवाया और उसे अपमानित कराया है। मरुभूति ने, राजा से प्रार्थना की, कि कमठ का अपराध क्षमा कर दिया जावे और उसे नगर से बाहर जाने का दण्ड न दिया जावे; परन्तु राजा ने मरुभूति की यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी! तब मरुभूति, कमठ से क्षमा माँगने के लिए उसके आश्रम में गया। कमठ के चरणों में पड़ कर मरु-भूति उससे क्षमा माँगने लगा, परन्तु कमठ के हृदय में जलने वाली अपमान की ज्वाला शान्त न हुई। उसने, क्रोध के वश

होकर, मरुभूति पर एक शिला दे मारी। शिलाघात से, मरुभूति पीड़ा पाने लगा, इतने ही में, कमठ ने मरुभूति पर फिर शिला-प्रहार किया। शिलाघात के कष्ट से आरतध्यान ध्याता हुआ मरुभूति मृत्यु को प्राप्त हुआ और विंध्याचल पर्वत पर युत्थपति हाथी हुआ दूसरी ओर कमठ की स्त्री वरुणा ने भी, क्रोधवश शरीर त्याग दिया, और वह इसी युत्थपति हाथी की हथिनी हुई। दोनों-हाथी हथिनी—स्वेच्छापूर्वक विषय सुख भोगते हुए विचरने लगे।

पोतनपुर के महाराजा अरविन्द, एक समय अपने महल की छत पर बैठे हुए थे। उन्होंने, एक मेघघटा को चढ़ते और बिखरते देखा। इस घटना पर से उन्हें विरक्ति हो गई और वे संयम में प्रवर्जित हो गये। अवधिज्ञान से युक्त गीतार्थ अरविन्द मुनि, एकलविहारी प्रतिमा को धारण करके विचरते हुए उसी वन में आ निकले, जिसमें मरुभूति का जीव, हाथी का भव धारण करके रहता था। परिवार सहित जलपान करके लौटता हुआ युत्थपति हाथी, अरविन्द मुनि की ओर दौड़ा। अरविन्द मुनि, कायोत्सर्ग करके ध्यानारूढ़ हो, खड़े हो गये। हाथी ने, मुनि को उपसर्ग तो देना चाहा, परन्तु मुनि के तप-तेज से, हाथी का क्रोध ही नष्ट हो गया। वह दीनता धारण करके मुनि के सन्मुख खड़ा रहा। ध्यान समाप्त करके मुनि ने, हाथी को उपदेश दिया और कहा कि तू अपने पूर्व-भव को याद कर,

जिसमें तू मरुभूति श्रावक था। आरतरुद्रध्यान में मृत्यु पाने से ही तू इस भव में हाथी हुआ है। मैं भी, पूर्व भव में अरविन्द राजा था। तूने वह मनुष्य भव तो हारा ही, परन्तु अब इस भव को भी क्यों कुकृत्य में लगाता है! इस प्रकार मुनि ने उपदेश दिया, जिसे सुनकर, युत्थपति हाथी को जाति-स्मृतिज्ञान हुआ। उसने मुनि को प्रणाम करके उनसे श्रावक-धर्म स्वीकार किया। युत्थपति हाथी की हथिनी भी पास ही खड़ी थी। मुनि का उपदेश सुनकर वह भी विचार करने लगी। विचार करते-करते हथिनी को भी जातिस्मृतिज्ञान हो गया और उसने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। श्रावक-धर्म स्वीकार करके हाथी, छट्ठ, अष्टम आदि तप करने लगा और यह भावना करने लगा, कि मनुष्य जन्म पाकर महाव्रत धारण करनेवाले प्राणि ही धन्य हैं, मुझे धिक्कार है, जो मैंने दीक्षा न लेकर मनुष्य जन्म को यों ही खो दिया। इस प्रकार की शुभ भावना करता हुआ हाथी, काल व्यतीत करने लगा।

कमठ, अपने भाई मरुभूति को मारकर भी शान्त नहीं हुआ था। मनुष्य-वध के दुष्कृत्य को देख कर, तापसों ने भी कमठ की निन्दा की। अन्त में वह आरतध्यान पूर्वक मर कर, कुक्कुट जाति का सर्प हुआ।

एक समय उक्त हाथी, एक सरोवर में जल पीने गया था।

तपस्या की निर्वलता के कारण वहाँ वह कीचड़ में फँस गया और प्रयत्न करने पर भी न निकल सका। इतने ही में सर्पभवधारी कमठ भी वहाँ आगया। पूर्वजन्म के वैर के कारण साँप ने, हाथी के कुम्भस्थल को डस लिया। हाथी को विष चढ़ा। अपना अन्तकाल समीप जान, हाथी ने अनशनादि शुद्धभाव से शरीर त्याग किया और अष्टम सहस्रार कल्प में सत्रह सागर की आयु-वाला महर्द्धिक देव हुआ। इस हाथी की हथिनी भी, कठिन तप करती हुई शरीर त्याग, ईशान्य कल्प में अनाभिग्रहीक देवी हुई, और देवसंबन्धी सुख भोगने लगी। अनेक जीवों का संहार करके कुक्कुट नाग भी मृत्यु पाया और पाँचवें नरक में सत्रह सागर की आयु लेकर उत्पन्न हुआ।

जम्बुद्वीप के प्राग्विदेह की सुकच्छ विजय में, वैताढ्यगिरि पर, तिलका नाम की नगरी थी। वहाँ विद्युद्गति नाम का विद्या-धरों का राजा रहता था। विद्युद्गति की कनकतिलका नाम्नी पटरानी थी। सहस्रार देवलोक का आयुष्य भोग कर हाथी का जीव, कनकतिलका के उदर में आया और गर्भकाल समाप्त होने पर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। विद्युद्गति ने पुत्र का नाम किरण-तेज रखा।

किरणतेज बड़ा हुआ। एक समय वहाँ सुरगुरु नाम के आचार्य पधारे। उनके उपदेश से प्रभावित होकर किरणतेज ने

संयम स्वीकार लिया और गीतार्थ हो, एकलविहारी प्रतिमा धारण करके विचरने लगा।

पाँचवें नरक का आयुष्य भोगकर कुक्कुट नाग का जीव, हिमगिरि की गुफा में सर्प योनि में उत्पन्न हुआ। वहाँ भी वह अनेक प्राणियों के प्राण हरण करता हुआ, कठिन और क्रूर कर्म उपार्जन करने लगा। किरणतेज मुनि भी, विचरते-विचरते इसी गुफा में पधारे। एकान्त स्थल देखकर मुनि, गुफा में ध्यान करके खड़े रहे। ध्यान में खड़े हुए मुनि को, उस सर्प ने देखा। पूर्वभव के वैर के कारण सर्प, क्रोधित होकर मुनि के शरीर से लिपट गया और उसने मुनि के शरीर को कई जगह डसा। मुनि ने, कर्मक्षय करने में सर्प को उपकारी माना और शुभ ध्यान करते हुए शरीर त्याग किया। शरीर त्याग कर, किरणतेज मुनि का जीव, बारहवें देवलोक में, बाईस सागर का आयुष्यवाला उत्कृष्ट देव हुआ। वह सर्प भी, महा भयंकर कर्म बाँध कर, दावानल में दग्ध हो, अशुभ परिणामों के कारण छट्ठे तमःप्रभा नरक में बाईस सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाला नेरयिक हुआ।

इसी जम्बू द्वीप के पश्चिम महाविदेह की सुगन्धा विजय में, शुभंकरा नामकी नगरी थी। वहां, वृजवीर्य नाम का राजा राज्य करता था, जिसकी रानी का नाम लक्ष्मीवती था। किरणतेज का जीव, बारहवें कल्प का आयुष्य समाप्त करके, लक्ष्मीवती की

कोख से उत्पन्न हुआ। वृजवीर्य ने बालक का वज्रनाभि नाम रखा। बड़ा होने पर वज्रनाभि, अनेक कलाओं का ज्ञाता हुआ। वृजवीर्य ने, वज्रनाभि का विवाह अनेक राजकन्याओं के साथ कर दिया। कुछ काल पश्चात् राजा वृजवीर्य, अपना राज-पाट वज्रनाभि को सौंप कर आत्मकल्याण में लग गये।

राजा वज्रनाभि के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम चक्रायुध रखा गया। बहुत काल तक राज्य करने के पश्चात्, राजा वज्रनाभि की इच्छा, संयम लेकर आत्मकल्याण करने की हुई। पुण्य-योग से शुभंकरा नगरी में, क्षेमंकर नाम के तीर्थङ्कर भगवान पधार गये। भगवान क्षेमंकर का उपदेश सुन कर, राजा वज्रनाभि, संयम में प्रवर्जित हो गये। थोड़े ही समय में, वज्रनाभि मुनि, सूत्र सिद्धान्त के पारगामी हो गये, और अनेक प्रकार के तप करते हुए विचरने लगे। उन्हें, आकाशगामिनी आदि अनेक लब्धियां भी प्राप्त हुई।

एक बार आकाशमार्ग से विहार करते हुए वज्रनाभि मुनि सुकच्छ विजय में पधारे। छठे नरक से निकल कर सर्प का जीव भी, इसी सुकच्छविजय के ज्वलनगिरि वन में कुरंगक नाम का भील हुआ था। कुरंगक भील, उस जंगल में भ्रमण करता हुआ, शिकार द्वारा आजीविका करता था। वज्रनाभि मुनि भी विहार करते हुए उसी ज्वलनगिरि नाम के जंगल में आ निकले। संध्या

का समय हो गया था, इस कारण वज्रनाभि मुनि, ज्वलनगिरि की एक कन्दरा में ही,कायोत्सर्ग करके ध्यानारूढ़ हुए। जंगल में भ्रमण करता हुआ कुरङ्गक भील, वहीं आनिकला,जहाँ, वज्र-नाभि मुनि कायोत्सर्ग करके ध्यान में थे। पूर्वभव केवैर के प्रभाव से, मुनि को देख कर कुरंगक भील ने, अपने लिए अपशकुन समझा। उसने क्रोधित होकर मुनि के बाण मारा। बाण लगने से, मुनि पीड़ित हुए, फिर भी क्रोधरहित मुनि ने, अनशन करके शुभ ध्यान में शरीर त्यागा। शरीर त्याग कर वज्रनाभि मुनि,मध्य ग्रैवेयक में परममहर्द्धिक देव हुए। क्रूरकर्मी कुरंगक भी, समय पर, बुरे परिणामों से मृत्यु पाया और सातवें नरक के रौरव नामक नरकावास में उत्पन्न हुआ।

इसी जम्बू द्वीप के पूर्वमहाविदेह में, पुराणपुर नामक नगर था। वहाँ, कुलिशबाहु नाम का राजा राज्य करता था, जिसकी सुदर्शना नाम्नी पटरानी थी। मध्यग्रैवेयक का आयुष्य भोग कर, वज्रनाभि का जीव, महारानी सुदर्शना की कोंख में आया। महा-रानी सुदर्शना ने, चौदह महास्वप्न देखे। पति से स्वप्नों का यह फल सुनकर कि 'तुम्हारी कोंख से चक्रवर्ती या धर्मचक्री पुत्र उत्पन्न होगा' महारानी सुदर्शना प्रसन्न हुई और सावधानी-पूर्वक गर्भ का पोषण करने लगीं। समय पर रानी ने एक सुन्दर और पुण्यवान बालक को जन्म दिया। राजा कुलिशबाहु ने, पुत्रजन्मो-

त्सव मना कर, बालक का नाम स्वर्णबाहु रखा। थोड़े ही समय में स्वर्णबाहु, सब प्रकार से योग्य हो गया। महाराजा कुलिशबाहु ने, राज-भार, स्वर्णबाहु को सौंप दिया और स्वयं संयम में प्रवजित हो गये। स्वर्णबाहु, राजा हुआ। स्वर्णबाहु का प्रताप दिनप्रतिदिन बढ़ता ही गया। कुछ काल पश्चात् स्वर्णबाहु के यहाँ चौदह रत्न प्रकट हुए और वह छःखण्ड पृथ्वी साध कर, चक्रवर्ती हुआ।

एक समय, भगवान तीर्थङ्कर पुराणपुर में पधारे। स्वर्णबाहु चक्रवर्ती भगवान को वन्दना करने गये। भगवान की वाणी सुन कर, स्वर्णबाहु को संसार से विरक्ति हो गई और वे संयम में प्रवर्जित हो गये। कठिन तप और अर्हद्भक्ति आदि बीस बोलों की आराधना करके स्वर्णबाहु ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया।

सातवें नरक का आयुष्य भोग कर कुरंगक भील का जीव क्षीरगिरि के पास के क्षीरवणा जंगल में सिंह हुआ। विहार करते हुए स्वर्णबाहु मुनि, इसी क्षीरवणा जंगल में आ निकले। सिंह ने, मुनि को देखा। पूर्वभव के वैर से मुनि को देखकर सिंह क्रुद्ध हुआ, और मुनि पर झपटा। उपसर्ग जान कर मुनि, सचेत हो गये थे, इसलिए उन्होंने आत्म-शुद्धि-पूर्वक अनशन कर लिया था। सिंह ने, मुनि की हत्या कर डाली। स्वर्णबाहु मुनि, समाधि-

पूर्वक शरीर त्याग कर, दसवें कल्प के महाप्रभ विमान में, वीस सागर की स्थिति के महर्द्धिक देव हुए और सिंह भी मर कर चौथे नरक में दस सागर की स्थितिवाला नेरयिक हुआ।

—c—

अन्तिम भव।

मध्य जम्बू द्वीप के भरतक्षेत्रान्तर्गत मध्य खण्ड में गंगा नदी के तट पर काशी देश है, जहाँ वाणारसी नाम की एक रमणीय नगरी थी। वहाँ, इक्ष्वाकु वंश में मुकुट के समान, अश्वसेन नाम के राजा राज्य करते थे। अश्वसेन की रानियों में, वामादेवी, सब से श्रेष्ठ रानी थीं, जो पटरानी भी थीं। स्वर्णबाहु चक्रवर्ती का जीव, प्राणत कल्प का आयुष्य भोग कर, चैत्र कृष्णा ४ की रात को वामादेवी के गर्भ में आया। सुख-शैया पर शयन किये ई महारानी वामादेवी ने, तीर्थङ्कर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों को देख कर वे जाग उठीं। उन्होंने, देखे हुए स्वप्न, अपने पति-महाराजा अश्वसेन—को सुनाये, और पति से स्वप्नों का फल सुनकर प्रसन्न होती हुई अपने शयनागार में लौट आईं, तथा शेष रात्रि धर्म जागरण में व्यतीत की।

महारानी वामादेवी, गर्भ का पालन करने लगीं। गर्भकाल समाप्त होने पर, महारानी ने, पौष कृष्णा १० की रात को—जब चन्द्र, अनुराधा नक्षत्र में आया हुआ था, तब—नीलमणि की शोभा को हरण करनेवाले, तथा अहि के चुन्ह चिन्हवाले त्रिलोकपूज्य पुत्र को जन्म दिया। भगवान के जन्मते ही क्षणभर के लिए त्रिलोक में प्रकाश हुआ और नारकीय जीवों को भी शांति मिली। छप्पन दिक्कुमारियों, अच्युतादि इन्द्रों और देवों ने, भगवान का जन्मकल्याण मनाया।

प्रातःकाल महाराजा अश्वसेन ने, पुत्रजन्मोत्सव मनाकर, बालक का नाम पार्श्वकुमार रखा। अनेक देवी-देव एवं मानव-मानवी से लालित-पालित भगवान पार्श्वकुमार, वृद्धि पाने लगे। भगवान, युवक हुए। उस समय उनका नव हाथ ऊँचा नीलवर्णीय शरीर, बहुत शोभायमान मालूम होता था।

कुशस्थल नगर के राजा प्रसेनजित को प्रभावती नाम्नी एक कन्या थी, जो बहुत सुन्दरी थी। जब प्रभावती, विवाह के योग्य हुई, तब उसके माता-पिता, प्रभावती के अनुरूप वर की खोज करने लगे। राजा प्रसेनजित ने बहुत तलाश की, लेकिन प्रभावती के योग्य वर का पता न लगा। एक दिन प्रभावती, अपनी सखियों के साथ बाग में टहल रही थी। वहाँ उसे किन्नरियों द्वारा गाया जाने वाला एक गीत सुनाई दिया, जिसमें

अश्वसेन-सुत पार्श्वकुमार के उत्कृष्ट रूप का वर्णन होने के साथ ही, उस स्त्री को धन्य बताया गया था, जिसे पार्श्वकुमार की पत्नी बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा। इस प्रकार का गीत सुन कर, प्रभावती के हृदय में, पार्श्वकुमार के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने निश्चय किया, कि मैं अपना विवाह, नरश्रेष्ठ पार्श्वकुमार के साथ ही करूँगी, अन्यथा अविवाहिता ही रहूँगी। प्रभावती की सखियों ने, प्रभावती का यह निश्चय, प्रभावती के माता-पिता को सुनाया। प्रभावती का निश्चय सुन कर प्रसेनजित प्रसन्न हुए और कहने लगे, कि जिस प्रकार कन्याओं में प्रभावती श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पुरुषों में पार्श्वकुमार श्रेष्ठ है। इन दोनों की जोड़ी योग्य है। प्रभावती का निश्चय पूर्ण करने की मैं चेष्टा करूँगा।

राजा प्रसेनजित, प्रभावती को साथ लेकर वाणारसी आये। उन्होंने, महाराजा अश्वसेन को प्रभावती का निश्चय सुनाया। महाराजा अश्वसेन कहने लगे, कि पार्श्वकुमार, बाल्यकाल से ही संसार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे, भविष्य में क्या करना चाहते हैं, इस विषय में हम कुछ नहीं जानते। चाहते तो हम भी यही हैं कि पार्श्वकुमार किसी योग्य कन्या के साथ विवाह करें, परन्तु उनके स्वभाव को देखते हमारी आशा पूर्ण होने में सन्देह है। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा कि पार्श्वकुमार, प्रभावती

के साथ विवाह कर लें।

महाराजा अश्वसेन, महाराजा प्रसेनजित और उनकी कन्या प्रभावती को साथ लेकर पार्श्वकुमार के पास गये। वे, पार्श्वकुमार से कहने लगे, कि हे पुत्र, इन महाराजा प्रसेनजित की इस प्रभावती कन्या ने, तुम्हारे साथ विवाह करने की आशा से बड़ा कष्ट उठाया है। यह तुम पर मुग्ध है और इसने तुम्हें पति रूप मान भी लिया है। अतः तुम इसके साथ अपना विवाह करो। यद्यपि भगवान पार्श्वनाथ को विवाह-बन्धन में पड़ना स्वीकार न था; फिर भी पिता का आग्रह देखकर और भोग-फल देनेवाले कर्म शेष जान कर, भगवान ने, विवाह करना स्वीकार कर लिया। परिणामतः भगवान पार्श्वकुमार का, प्रभावती के साथ विवाह हो गया और दोनों आनन्द-पूर्वक रहने लगे।

एक समय झरोखे में बैठे हुए भगवान पार्श्वकुमार, बाजार की छटा देख रहे थे। उस समय भगवान ने देखा, कि झुण्ड के झुण्ड लोग, हाथ में फल फूलादि लिये हुये नगर से बाहर की ओर जा रहे हैं। पूछने से पता लगा, कि कमठ नाम का तापस पंचधुनी तापता है। वह, चारों ओर आग जला लेता है और ऊपर से सूर्य का आताप सहता है। लोग, उसी की भेंट-पूजा के लिए यह सामग्री लेकर जा रहे हैं। इतने ही में, माता वामादेवी का भेजा हुआ यह सन्देश भी भगवान के पास आया कि

'मैं, कमठ तपस्वी की पूजा करने जा रही हूँ, आप भी वहाँ चलें।' यद्यपि भगवान पार्श्वकुमार, इस प्रकार के तप को अज्ञान कष्ट समझते थे, फिर भी माता की आज्ञा का पालन करने, और वहाँ कोई बड़ा काम बनने वाला है, यह विचार कर, भगवान पार्श्वकुमार, गंगा तट पर वहाँ गये, जहाँ, कमठ तापस ताप ले रहा था।

यह कमठ तापस वही है, जिसने सिंह के भव में स्वर्णबाहु मुनि की हत्या की थी और जो चौथे नरक में गया था। भगवान पार्श्वनाथ, जब पूर्व भव में, विश्वभूति पुरोहित के लड़के मरु-भूति थे, तब यह तापस, इन्हीं का भाई था और उसी समय से वैर बाँधता आ रहा है। विश्वभूति के कमठ और मरुभूति, इन दोनों लड़कों में से कमठ तो कमठ तापस के भव में है और मरुभूति, पार्श्वकुमार के भव में है।

भगवान पार्श्वकुमार, गंगा तट पर तप करते हुए कमठ तापस की धुनी के पास आये। वहाँ उन्होंने देखा, कि धुनी में जलते हुए एक लक्कड़ में बैठा हुआ एक नाग भी जल रहा है। भगवान ने, तापस से कहा कि 'जिसमें बड़े-बड़े जीवों की हिंसा होती हो, ऐसे अज्ञान तप से कोई सिद्धि नहीं मिल सकती। इस प्रकार धुनी तापने से कोई लाभ नहीं है, जिसमें कि पंचेन्द्रिय प्राणी तक की हत्या हो। देखो, इस धुनी में जलते

हुए लक्कड़ के साथ, एक साँप भी जल रहा है।' तापस से यह कह कर, भगवान ने अपने सेवकों से उस लक्कड़ को धुनी से बाहर निकलवाया और सावधानी से लक्कड़ फाड़ने की आज्ञा दी। लक्कड़ के फटते ही, उसमें से तड़फता हुआ नाग निकल आया। भगवान ने, उस नाग को नमस्कार मंत्र की शरण दी। धर्म पर सम्यक् प्रकार से श्रद्धा लाने के कारण वह नाग, अपना शरीर त्याग कर, नागकुमार का स्वामी धरणेन्द्र हुआ। भगवान पार्श्व-कुमार भी, अपने महल को लौट आये।

यह घटना देखकर, लोगों ने उस तापस की बहुत निन्दा की। अपमानित होने के कारण तापस को भगवान पार्श्वकुमार पर बहुत क्रोध आया; परन्तु विवश था, अतः उसने अपने तप के फल स्वरूप यह कामना की कि मैं, मेरे वैरी पार्श्वकुमार के लिए दुःखदायी बनूँ। अज्ञानतप के फल से कमठ तापस—मृत्यु-पाकर—मेघमाली देव हुआ। मेघमाली देव, भगवान पार्श्वकुमार से बदला लेने के समय की प्रतीक्षा करने लगा।

भगवान पार्श्वकुमार की आयु जब तीस वर्ष की हुई, तब एक दिन भगवान विचारने लगे, कि अब मेरे भोगफल देनेवाले कर्म, खपने आये हैं, अतः अब मुझे आत्मकल्याण करना चाहिए। भगवान इस प्रकार विचार कर रहे थे, इतने ही में लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की, कि हे प्रभो, अब धर्म तीर्थ प्रवर्ताइये।

भगवान ने, उसी समय से वार्षिकदान देना प्रारम्भ कर दिया।

वार्षिक दान समाप्त होने पर, दीक्षाभिषेक के पश्चात भगवान पार्श्वनाथ, विशाला नाम्नी शिविका में विराजे। इन्द्र और देव देवी भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाने लगे। शिविकारूढ़ भगवान, मनुष्यों और देवों द्वारा होनेवाले जयजयकार के मध्य वाणारसी नगरी में होते हुए, आश्रमपद नामक उद्यान में पधारे। वहाँ, सब वस्त्राभूषण त्यागकर, तीन सौ राजाओं के साथ, अष्टम के तप में, पौष कृष्णा ११ को—जब चन्द्र, अनुराधा नक्षत्र में था—भगवान पार्श्वकुमार ने संयम स्वीकार किया। संयम स्वीकार करते ही, भगवान पार्श्वनाथ को मनःपर्यय नामका चौथा ज्ञान उत्पन्न हुआ।

दूसरे दिन, कोपकट ग्राम में धन्य नामक गृहस्थ के यहाँ, भगवान पार्श्वनाथ का पारणा हुआ। पारणा करके भगवान, अन्यत्र विहार कर गये।

एक बार, अप्रतिबन्ध विहार करते हुए भगवान, तापसों के आश्रम के समीप पधारे। सूर्यास्त हो चुका था, इसलिए भगवान पार्श्वनाथ, वहीं कुएँ के समीपस्थ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। मेघमालि देव ने, इस अवसर को अपना वैर चुकाने के लिए उपयुक्त समझा। उसने, पहले तो रीछ, चीता, हाथी और सिंह बनकर, भगवान को डराने की

चेष्टा की, परन्तु जब उसे सफलता न मिली, तब उसने आकाश में मेघ लाकर जल बरसाना शुरू किया। मेघ के गरजने बरसने और बिजली के कड़कने से, बड़े-बड़े वृक्ष भी उखड़-उखड़कर गिरने लगे। वन के पशु-पक्षी, इधर-उधर भागने लगे। सारा वन, जलमय हो गया। जल, क्रमशः भगवान पार्श्वनाथ की कमर, छाती और नाक तक पहुँच गया, फिर भी भगवान, ध्यान से अविचल रहे। अनायास धरणेन्द्र का ध्यान इस ओर गया। भगवान पर यह उपसर्ग देखकर, धरणेन्द्र शीघ्र ही भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान को नमस्कार करके, धरणेन्द्र ने, भगवान के चरणों के नीचे स्वर्ण-कमल वैक्रिय किया और भगवान के मस्तक पर, अपने सप्त फण का छत्र करके भगवान के शरीर को अपने शरीर से आच्छादित कर लिया। उस समय भगवान की शोभा कुछ और ही दिखने लगी।

धरणेन्द्र ने, इस प्रकार भगवान का उपसर्ग निवारण किया। पश्चात् वह, क्रुद्ध होकर मेघमालि देव से कहने लगे। कि—अरे दुष्ट, तू यह क्या कर रहा है! या तो शीघ्र ही अपनी माया समेट कर भगवान की शरण ले, अन्यथा मैं तेरे इस अपराध को क्षमा न करूँगा। धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमालि बहुत लज्जित हुआ। अपनी माया समेट कर वह अपने मन में कहने लगा, कि मैंने इन महापुरुष को कष्ट देने के लिए

अपनी सारी शक्ति लगा दी, तब भी ये महापुरुष धीर ही बने रहे और मेरी समस्त शक्ति वृथा ही गई। इसके सिवा ये महा-पुरुष, अंगूठे से मेरु पर्वत को हिलाने में समर्थ हैं, फिर भी इन्होंने मेरे पर क्रोध नहीं किया। अतः अब मेरी कुशल इन महा-पुरुष की शरण लेने में ही है। इस प्रकार विचार कर, मेघमालि अभिमान तज भगवान के चरणों में गिर पड़ा और भगवान से क्षमा-प्रार्थना करने लगा। वीतराग भगवान पार्श्वनाथ के समीप तो धरणेन्द्र और मेघमालि, समान ही थे, अतः भगवान ने, मेघमालि को आश्वासन दिया। अन्त में, धरणेन्द्र और मेघ-मालि दोनों, भगवान को नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गये। भगवान भी, अन्यत्र विहार कर गये।

भगवान पार्श्वनाथ, छद्मस्थ-अवस्था में चौरासी दिन तक विचरते रहे। विचरते हुए भगवान वाणारसी के उसी उद्यान में पधारे, जिसमें भगवान ने संयम स्वीकार किया था। वहाँ, शुद्ध ध्यान पर आरूढ़ होने से और सर्व घातिक कर्म नष्ट हो जाने से, भगवान ने, चैत्र कृष्णा १४ के दिन केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। भगवान को केवलज्ञान होते ही, इन्द्र और देवता, भगवान का केवलज्ञान महोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुए। समव-शरण की रचना हुई। बारह प्रकार की परिषद्, भगवान की वाणी श्रवण करने के लिए एकत्रित हुई। महाराजा अश्वसेन

आदि भी भगवान को वन्दन करने आये। भगवान ने, भव्यजीवों के लिए हितकारी उपदेश दिया। भगवान का उपदेश सुन कर, बहुत से जीव प्रतिबोध पाये। महाराजा अश्वसेन, महारानी वामादेवी, तथा रानी प्रभावती आदि ने भगवान के समीप संयम स्वीकार किया।

भगवान पार्श्वनाथ के आर्यदत्त आदि दस गणधर थे। पन्द्रह हजार मुनि थे। अड़तीस हज़ार साध्वियाँ थीं। एकलाखचव्वन हज़ार श्रावक थे। और तीन लाखउन्तालीस हज़ार श्राविका थीं।

भगवान पार्श्वनाथ, कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते रहे और अनेक भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अपना निर्वाणकाल समीप जान कर, एक सहस्र मुनियों सहित भगवान पार्श्वनाथ ने सम्मेत शिखर पर पधार कर अनशन कर लिया जो एक मास तक चलता रहा। अन्त में, शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो भगवान पार्श्वनाथ ने सब कर्मों का अन्त कर दिया और सिद्ध पद को प्राप्त किया।

भगवान पार्श्वनाथ, तीस वर्ष तक कुमार पद पर रहे। तीन मास से कुछ कम, छद्मस्थ-अवस्था में विचरते रहे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत की। इस प्रकार एक सौ वर्ष का आयुष्य भोग कर भगवान पार्श्वनाथ, भगवान अरिष्टनेमि के निर्वाण को पौनेचौरासीहज़ारवर्ष बीत जाने पर निर्वाण पधारे।

—:o:—

प्रश्नः—

१—भगवान पार्श्वनाथ के माता-पिता और जन्म-स्थान का नाम क्या था ?

२—भगवान पार्श्वनाथ की पत्नी का नाम क्या था और वे किसकी कन्या थीं, तथा किस घटना के कारण किस प्रकार दोनों का सम्बन्ध जुड़ा था ?

३—भगवान पार्श्वनाथ, वामादेवी के गर्भ में किस गति से–कितना आयुष्य भोग कर—पधारे थे ?

४—भगवान पार्श्वनाथ को मेघमालि देव ने क्या उपसर्ग पहुँचाया था और किस कारण ? उपसर्ग पहुँचाने का कारण कब एवं किस रूप में उत्पन्न हुआ था और वह कितने भव तक किस किस रूप में चलता रहा ?

५—भगवान पार्श्वनाथ के और कमठ तापस के बीच में कौनसी घटना घटी थी ?

६—धरणेन्द्र ने, भगवान का उपसर्ग क्यों मिटाया था ? और किस प्रकार मिटाया था ?

७—कमठ तापस पूर्व-भव में कौन था ?

८—भगवान की जन्मतिथि, दीक्षातिथि, और केवलज्ञान-तिथि बताओ ।

९—भगवान के शरीर का परिमाण और वर्ण बताओ।

१०—भगवान की आयु किस-किस प्रकार बीती ?

११—किन्हीं तीर्थङ्कर के पास उनके माता-पिता ने भी दीक्षा ली है या नहीं ? ली है तो किनने किसके पास ?

१२—भगवान पार्श्वनाथ के और भगवान नमीनाथ के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा ?

१३—वैर-बन्ध का क्या परिणाम होता है ?

भगवान श्री महावीर ।

पूर्व भव ।

श्लोक :—

सिद्धार्थवंश भवनेऽस्तु तयं सुराली,
हृद्यातमोहमऽकरध्वज माऽऽनतारे ।
त्वांनामि वीर विनयेन सुमेरुधीरं,
हृद्यातमोहमकरध्वज मान तारे ॥

इस जम्बू द्वीप के पश्चिममहाविदेह की महावप्र विजय में जयन्ती नाम की एक नगरी थी। वहाँ, शत्रुमर्दन नाम का राजा राज्य करता था। उसके राज्यान्तर्गत पृथ्वीप्रतिष्ठान नामक ग्राम में, नयसार नाम का एक व्यक्ति रहता था, जो राजा शत्रुमर्दन का सेवक था। नयसार, स्वामिभक्त, गुणग्राहक, कोमल स्वभाववाला और अपकृत्यों से दूर रहनेवाला था।

एक बार नयसार, कई गाड़े लेकर जंगल में, लकड़ी लाने गया। लकड़ी काटते-काटते मध्यान्ह का समय हो गया, तब अपने साथियों सहित नयसार, भोजन करने के लिए तयार हुआ। इतने ही में नयसार ने देखा, कि एक महात्मा चले आ रहे हैं, जो सूर्य के प्रचण्ड ताप और क्षुधा-तृषा से पीड़ित हैं। मुनि को देखकर नयसार, प्रसन्न हुआ। अपना अहोभाग्य मान-कर नयसार ने मुनि को प्रणाम किया और मुनि से पूछा, कि आप इस गहन जंगल में कैसे पधारे हैं? मुनि ने उत्तर दिया कि मार्ग भूलने के कारण ही इस जंगल में भटक रहे हैं। नयसार ने, श्रद्धा-भक्ति पूर्वक मुनि को दान दिया। मुनि ने आहार किया। पश्चात् नयसार ने, मुनि के साथ जाकर, मुनि को ठीक मार्ग से एक नगर के किनारे पहुँचा दिया। मुनि ने, नयसार को धर्मोपदेश दिया। नयसार ने मुनि से समकित स्वीकार की।

समकित स्वीकार करके नयसार, शुद्ध सम्यक्त्व पालता हुआ, मुनियों की सेवा करने लगा। कुछ काल पश्चात् मृत्यु पाकर नयसार, प्रथम देवलोक में एक पल्य की स्थितिवाला देव हुआ।

जम्बू द्वीप के इसी भरतक्षेत्र में विनीता नामकी नगरी थी, जहाँ भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती राज्य करते थे। प्रथम देवलोक का आयुष्य भोगकर नयसार का जीव, भरत चक्रवर्ती के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। शरीर की चमकती हुई कान्ति के कारण, इसका नाम मरीचि रखा गया।

जब भगवान ऋषभदेव संयम में प्रवर्जित होकर धर्मोपदेश देने लगे, तब मरीचि ने भी, भगवान के पास से संयम स्वीकार लिया। मरीचि ने, ग्यारह अंग का अभ्यास भी किया, परन्तु उसे विहार की गर्मी असह्य हुई और वह परिषह को न जीत सका, अपितु परिषह से पराजित हो गया। परिषह जीतने में असमर्थ रहने के कारण, मरीचि, त्रिदण्डी (संन्यासी) हो गया। सन्यासी होने पर भी, मरीचि की श्रद्धा शुद्ध ही रही। जब उससे कोई धर्म के विषय में पूछता, तब वह वीतराग प्ररूपित साधु-धर्म ही श्रेष्ठ बताता और जब कोई यह पूछता, कि तुम इस धर्म को क्यों नहीं पालते हो, तब वह अपनी असमर्थता प्रकट करता। मरीचि, अपने उपदेश से प्रतिबोध पाये हुए व्यक्ति को,

भगवान ऋषभदेव के पास भेज देता। इस प्रकार करता हुआ मरीचि, भगवान ऋषभदेव के साथ ही विचरता रहता।

एक बार भरत चक्री ने भगवान ऋषभदेव से पूछा, कि—हे प्रभो, इस अवसर्पिणी काल में, इस भरतक्षेत्र में आप जैसे कितने तीर्थङ्कर होंगे? भगवान ने उत्तर दिया कि मुझ जैसे तेईस तीर्थ-ङ्कर और होंगे, तथा तुझ जैसे ग्यारह चक्रवर्ती होंगे। इसी प्रकार नवनारायण नव बलदेव, और नव प्रतिवासुदेव होंगे। यह सुनकर भरत चक्रवर्ती ने फिर प्रश्न किया कि हे प्रभो, यहाँ पर कोई व्यक्ति ऐसा है, जो अवसर्पिणी काल में होने वाले अन्य तेईस तीर्थङ्करों में तीर्थङ्कर होनेवाला हो? भगवान ऋषभदेव ने उत्तर दिया, कि तुम्हारा पुत्र मरीचि, अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थङ्करों में से महावीर अथवा वर्द्धमान नाम का अन्तिम तीर्थ-ङ्कर होगा। यही मरीचि, त्रिपृष्ट नाम का प्रथम वासुदेव तथा महाविदेह क्षेत्र में, प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा।

भरत चक्रवर्ती, भगवान को वन्दन करके मरीचि त्रिदण्डी के पास आये। मरीचि को वन्दन करके भरत चक्रवर्ती उनसे कहने लगे, कि 'भगवान ऋषभदेव का आपके लिए यह कथन है, कि आप भविष्य में, इस अवसर्पिणी काल में होने वाले चौबीस तीर्थङ्करों में से अन्तिम तीर्थङ्कर होंगे और प्रथम वासु-देव होंगे तथा महाविदेह में चक्रवर्ती भी होंगे। मैं आपको

सन्यासी समझ कर वन्दन नहीं करता हूँ, किन्तु आप भावी तीर्थङ्कर हैं, इसलिए आपको नमस्कार किया है।

भरत चक्रवर्ती द्वारा भगवान ऋषभदेव की भविष्यवाणी सुन कर, मरीचि त्रिदण्डी बहुत प्रसन्न हुआ। हर्षावेश में, वह कूदने लगा और कहने लगा, कि मैं, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर होऊँगा! मेरे पिता, प्रथम चक्रवर्ती हैं और मेरे पितामह, प्रथम धर्मचक्री हैं! मैं भी, प्रथम वासुदेव होऊँगा! मैं, कैसा कुलवान और श्रेष्ठ कर्म करने वाला हूँ! मेरा कैसा सद्भाग्य है! इस प्रकार गर्वोन्मत्त होकर मरीचि, बार-बार कहने लगा। उसने, अपने गर्व की आलोचना भी नहीं की, इसलिए उसने नीच गोत्र का उपार्जन किया।

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण पधारने के बाद भी, मरीचि, भगवान ऋषभदेव के साधुओं के ही साथ रहने लगा। कुछ दिन पश्चात् वेदनीयकर्म के उदय से मरीचि, बीमार पड़ गया। भगवान ऋषभदेव के साधुओं ने मरीचि को असाधु समझ कर, उसकी सुश्रुषा नहीं की। तब मरीचि विचारने लगा कि आज तक जो कोई भी मेरे पास आता, मैं उसे बोध देकर इन साधुओं के पास भेज देता, अपना शिष्य न बनाता, लेकिन ये साधु तो मेरे साथ मनुष्योचित व्यवहार भी नहीं करते! इस प्रकार विचार करने के पश्चात ही मरीचि को यह भी विचार हुआ कि

जो महात्मा अपने शरीर की भी उपेक्षा रखते हैं, वे मुझ जैसे पतित की सेवा सुश्रुपा क्यों करें! और मैं उनसे ऐसी आशा भी क्यों करूँ! अब तो मेरे लिए यही अच्छा है, कि स्वस्थ होने के पश्चात मैं भी एक शिष्य बनाऊँ!

एक समय कपिल नाम का एक व्यक्ति, धर्म का अर्थी होकर मरीचि के पास आया। मरीचि ने उसे अर्हत-धर्म का उपदेश दिया। कपिल ने मरीचि से पूछा कि तुम जिस धर्म का उपदेश मुझे दे रहे हो, उस धर्म का पालन स्वयं क्यों नहीं करते! मरीचि ने, अर्हतधर्म पाल सकने की अपनी असमर्थता, कपिल के सामने प्रकट की। तब कपिल ने, मरीचि से पूछा कि क्या तुम्हारे मार्ग में धर्म नहीं है? कपिल का प्रश्न सुनकर, मरीचि समझ गया कि यह कपिल जैन-धर्म पालने में आलसी है। मरीचि ने, कपिल को अपना शिष्य बनाने के लोभ से, उसके प्रश्न के उत्तर में कहा, कि अर्हत-भाषित मार्ग में भी धर्म है और मेरे मार्ग में भी धर्म है! यह कह कर मरीचि ने, कपिल को अपना शिष्य बनाया। शिष्य के लोभ में कपिल ने सम्यक्त्व की विराधना करके एक क्रोड़ा-क्रोड़ सागर का मोहनीय कर्म उपार्जन किया। उसने, अपने इस कार्य की आलोचना भी नहीं की। अन्त में अनशन द्वारा काल करके मरीचि, ब्रह्मकल्प में दस सागर की स्थितिवाला देव हुआ।

मरीचि के शिष्य कपिल ने भी, असुर आदि अनेक शिष्य किये। अन्त में काल करके कपिल, पाँचवें स्वर्ग में गया। वहाँ, अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव जानकर कपिल ने, मोहवश अपने पूर्वभव के स्थान पर आकर अपने मत का प्रचार किया। उसी समय से सांख्य दर्शन की प्रवृत्ति हुई।

मरीचि का जीव, ब्रह्मदेवलोक का आयुष्य भोगकर, कोलाक ग्राम में ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी वह त्रिदण्डी हुआ। पश्चात् भव-भ्रमण करता हुआ, स्थूण नामक स्थान में प्रियमित्र ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी, त्रिदण्डी ही हुआ। वहाँ से काल करके, सौधर्म कल्प में देव हुआ। सौधर्मकल्प का आयुष्य भोगकर, चैत्य नामक स्थान में अग्न्युद्योत नामका ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी सन्यासी बना। पश्चात् मृत्यु पाकर, ईशान्य कल्प में देव हुआ। ईशान्य कल्प से, मन्दिर नाम के सन्निवेश में अग्निभूति ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी त्रिदण्डी हुआ और फिर मृत्यु पाकर सनत्कुमार कल्प में देव हुआ। वहाँ से, ताम्बी नगरी में भारद्वाज ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी सन्यासी हुआ और काल करके माहेन्द्रकल्प में देव हुआ। फिर अनेक भव भ्रमण करने के पश्चात् राजगृह नगर में स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी सन्यासी बना और काल करके ब्रह्मदेवलोक में देव हुआ।*

---

*एक बार सम्यक्त्व की विराधना करने पर, अनेक भव में सन्यासी

इस प्रकार अनेक भव में भ्रमण करता हुआ नयसार—या मरीचि—का जीव, राजगृह नगर के राजा विश्वनन्दी के छोटे भाई युवराज विशाखभूति की धारिणी रानी की कोख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। विश्वभूति, पराक्रमी था। एक बार विश्वभूति के भाई विशाखनन्दी ने, विश्वभूति के साथ कपट किया। इस घटना ने विश्वभूति को संसार से विरक्त बना दिया। परिणामतः विश्वभूति, संयम लेकर उग्र तप करने लगे। यद्यपि तप के कारण विश्वभूति का शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, फिर भी वे गीतार्थ होकर गुरु–आज्ञा से अकेले विचरने लगे।

एक समय राजकुमार विशाखनन्दी, मथुरा की राजकुमारी से विवाह करने के लिए मथुरा में आया हुआ था। विचरते हुए विश्वभूति मुनि भी मथुरा में आये हुए थे। विशाखनन्दी, अपने ठहरने के महल की खिड़की में बैठा हुआ था, इतने ही में उधर से विश्वभूति मुनि मास-क्षमण के पारणे को भिक्षार्थ

बनने से भी जीव का कल्याण नहीं होता। बल्कि अज्ञानपूर्वक किया गया तप, और भवभ्रमण ही कराता है। मरीचि के इतने भव तो बढ़े-चढ़े हुए हैं, परन्तु उसे एकेन्द्रियादिक भव में भी भ्रमण करना पड़ा है। इसीलिए नमीराज ने इन्द्र से कहा था कि अज्ञानवश किया हुआ मास-मास-क्षमण का तप भी, तत्त्वज्ञ पुरुषों की करणी के सोलहवें अंश की भी समता नहीं कर सकता।

—लेखक

निकले। कृप-शरीरी विश्वभूति मुनि, एक गाय की टक्कर से भूमि पर गिर पड़े। विशाखनन्दी ने, मुनि को पहचान लिया और मुनि का उपहास करता हुआ कहने लगा—कि रे कोठे पर के फलों को गिराने वाले! तेरा वह बल कहाँ गया! विशाखनन्दी की व्यंग पूर्ण बात विश्वभूति मुनि को असह्य हुई। उन्होंने, क्रुद्ध होकर जिस गाय की टक्कर लगी थी, उसे सींग पकड़ कर उठा लिया और चक्कर देकर फिर भूमि पर रख दिया। पश्चात् यह कामना की, कि मैं भवान्तर में तप-प्रभाव से विशाखनन्दी को मारनेवाला होऊँ। मुनि ने, इस दुष्कामना की आलोचना भी नहीं की। अन्त में बहुत काल तक तप करके वे, शरीर त्याग महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट आयुष्य वाले देव हुए।

इसी जम्बू द्वीप के इसी भरत क्षेत्र में पोतनपुर नाम का एक नगर था। वहाँ, रिपुप्रतिशत्रु अथवा प्रजापति नाम का राजा राज्य करता था। रिपुप्रतिशत्रु की भद्रा नाम्नी रानी की कोंख से, अचल नाम के बल्देव उत्पन्न हुए। पश्चात् रिपुप्रतिशत्रु की मृगावती नाम की दूसरी रानी की कोंख से—महाशुक्र देवलोक का आयुष्य भोगकर—विश्वभूति का जीव, पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इस पुत्र के पृष्ठ भाग में तीन पसलियाँ थीं, इसलिए बालक का नाम, त्रिपृष्ठ हुआ। अचल बलदेव और त्रिपृष्ठ वासुदेव—दोनों भाई—आनन्द से रहने लगे।

उन्हीं दिनों में, अश्वग्रीव नामका प्रतिवासुदेव, तीन खण्ड पृथ्वी का भोगकर रहा था। वासुदेव और बलदेव के पिता, राजा रिपुप्रतिशत्रु तथा और बड़े-बड़े राजा भी, अश्वग्रीव की आज्ञा मानते थे। एक समय अश्वग्रीव ने एक नैमित्तिक से पूछा, कि मेरी मृत्यु किस प्रकार होगी? नैमित्तिक ने कहा, कि जो पुरुष आपके चण्डवेग दूत पर आक्रमण करेगा, और जो तुंगगिरि के समीप रहे हुए केसरी सिंह को लीला मात्र में चीर डालेगा, उसी—रिपुप्रतिशत्रु राजा के पुत्र-त्रिपृष्ठ से आपका युद्ध होगा। उस युद्ध में त्रिपृष्ठ, आपको मारकर, तीन खण्ड पृथ्वी का भोक्ता वासुदेव होगा।

नैमित्तिक से यह जानकर कि मेरी मृत्यु, त्रिपृष्ठ वासुदेव से होगी, अश्वग्रीव को बड़ी चिन्ता रहने लगी। उसने, प्रतापी और दूत-क्रिया-कुशल चण्डवेग को पोतनपुर भेजा। पोतनपुर में, अपने पुत्रों सहित राजा रिपुप्रतिशत्रु, नाटक देख रहे थे। चण्डवेग, सीधा उसी नाट्य-स्थल पर चला गया, जिससे नाटक का रंग, भंग हो गया। त्रिपृष्ठ वासुदेव को यह बात असह्य हुई। उन्होंने, चण्डवेग से कहा, कि रे मूर्ख, तू सूचना दिये बिना नाट्य-सभा में कैसे चला आया! यह कह कर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने, अपने दूतों द्वारा चण्डवेग को खूब पिटवाया। चण्डवेग के साथी यह देख कर भाग गये और उन्होंने यह सब हाल अश्व-

ग्रीव को जा सुनाया। यह घटना सुनकर, अश्वग्रीव की चिन्ता और बढ़ गई।

उन्हीं दिनों विश्वभूति का भाई (विश्वभूति मुनि का उपहास करने वाला) विशाखनन्दी कुमार, भव-भ्रमण करके, तुंगगिरि की तराई में केसरी सिंह हुआ था। वह सिंह, बहुत बलवान, क्रोधी और जनता के लिये भय का कारण था। इस सिंह के भय से, तुंगगिरि के समीपस्थ शंखपुर के प्रदेश के शालि-खेत की रक्षा करना, प्रजा के लिए असम्भव हो गया था। इसलिए राजा अश्वग्रीव अपने आज्ञाकारी राजाओं को शंखपुर-प्रदेश की प्रजा की सहायता के लिए भेजा करता था।

एक बार, शंखपुर के शालि खेतों की रक्षा करनेवाले कृषकों की सहायता के लिए राजा रिपुप्रतिशत्रु के जाने का क्रम आया। राजा, रिपुप्रतिशत्रु, अपने दोनों पुत्रों को राज्य सम्हला कर, शंखपुर की ओर जाने को तयार हुए। तब त्रिपृष्ठ कुमार ने रिपुप्रतिशत्रु से कहा—पिताजी, ऐसे तुच्छ कार्य के लिए आपका जाना ठीक नहीं है, आप यहीं रहिये, हम दोनों भाई जाते हैं। राजा रिपुप्रतिशत्रु ने बहुत रोका, परन्तु त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल बलदेव, पिता की आज्ञा लेकर गये ही।

निश्चित स्थान पर पहुँच कर, त्रिपृष्ठ वासुदेव ने, वहाँ के लोगों से पूछा कि यहाँ रक्षा करने के लिए आने वाले राजा

लोग, क्या करते हैं ? लोगों ने उत्तर दिया, कि शालि-खेत की चारों ओर सेना का कोट बनाकर तब तक रहते हैं, जब तक कि शालि कट नहीं जाती। त्रिपृष्ठ ने कहा कि इतने समय तक पड़े रहना, मेरे लिए तो व्यर्थ ही है। तुम लोग मुझे वह सिंह बता दो, कि मैं उसे मार डालूँ।

लोगों ने, त्रिपृष्ठ कुमार के साथ जाकर, उन्हें वह सिंह बता दिया। त्रिपृष्ठकुमार रथ तथा अस्त्र-शस्त्र छोड़ निःसस्त्र हो सिंह से युद्ध करने लगे। युद्ध करते हुए त्रिपृष्ठ कुमार ने, सिंह को पकड़ कर चीर डाला। क्रोध और दुःख के मारे सिंह, तड़फड़ाने लगा। उस समय त्रिपृष्ठ कुमार के सारथी ने सिंह से कहा कि— हे पशुराज, तू किसी साधारण मनुष्य से नही मारा गया है, किन्तु पुरुषोत्तम के हाथ से मारा गया है। अतः वृथा दुःख न कर, न अपना अपमान मान। सारथी की वाणी से सिंह को सन्तोष हुआ और वह पंचत्व को प्राप्त हुआ। देवताओं ने त्रिपृष्ठ पर पुष्पादि की वर्षा की।

अश्वग्रीव प्रति वासुदेव ने त्रिपृष्ट द्वारा सिंह के मारे जाने का समाचार सुना। नैमित्तिक के कहे हुए लक्षण ठीक जानकर, अश्वग्रीव को बहुत दुःख हुआ। वह, त्रिपृष्ठ की ओर से सशंक रहने लगा।

वैताढ्य गिरि पर, विद्याधरों की श्रेणी में, रथनूपुर-चक्रवाल नामक नगर था। वहाँ ज्वलनजटी नाम का विद्याधर राजा राज्य

करता था। विद्याधर ज्वलनजटी की अनुपम सुन्दरी स्वयंप्रभा नाम्नी कन्या थी। जब स्वयंप्रभा सयानी हुई, तब ज्वलनजटी विचार करने लगा, कि मैं यह कन्या-रत्न किसे दूँ! इतने ही में एक नैमित्तिक आया। नैमित्तिक ने ज्वलनजटी से कहा, कि पोतनपुर के रिपुप्रतिशत्रु राजा का पुत्र त्रिपृष्ठ कुमार, इस कन्या के योग्य वर है। त्रिपृष्ठ कुमार, थोड़े ही समय में राजा अश्वग्रीव को मार कर त्रिखण्ड पृथ्वीपति प्रथम वासुदेव होगा और आपको वह विद्याधरों की दोनो श्रेणी का अधिपति बनावेगा। नैमित्तिक की बात मान कर, ज्वलनजटी ने, स्वयंप्रभा का विवाह, त्रिपृष्ठ के साथ कर दिया। जब यह समाचार अश्वग्रीव ने सुना, तब वह यह विचार कर ज्वलनजटी पर क्रुद्ध हुआ, कि उसने स्वयंप्रभा का विवाह, मेरे शत्रु त्रिपृष्ठ के साथ क्यों किया, मेरे साथ क्यों नहीं किया! अश्वग्रीव ने, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी के विरुद्ध युद्ध ठान दिया। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ में घोर युद्ध हुआ। अन्त में, अश्वग्रीव को मारकर, त्रिपृष्ठ, तीन खण्ड पृथ्वी को साध, प्रथम वासुदेव हुए। भरतार्द्ध के समस्त राजाओं ने, त्रिपृष्ठ वासुदेव का आधिपत्य स्वीकार किया।

त्रिपृष्ठ नारायण, तीन खण्ड पृथ्वी का उपभोग करता हुआ, सुखपूर्वक काल बिताने लगा। उस समय ग्यारहवें तीर्थङ्कर भगवान श्रेयांशनाथ, पोतनपुर पधारे। वासुदेव त्रिपृष्ठ ने, भगवान

से समकित प्राप्त की लेकिन भोगों में बहुत अधिक मूर्छित रहने के कारण, वासुदेव ने, सम्यक्त्व को भी भुला दिया। एक समय, श्रेष्ठ गायक गा रहे थे। शयन करते समय वासुदेव ने, शैया-रक्षक को यह आज्ञा दी, कि जब मुझे नींद आ जावे, तब गायकों को विदा कर देना। शैया-रक्षक, गायकों के गीत पर ऐसा मुग्ध हुआ, कि वह वासुदेव की आज्ञा को विस्मृत हो गया। वासुदेव जब जागे, तब गायकों का गीत सुनाई दिया। उन्होंने, शय्या-रक्षक से पूछा, कि मेरी आज्ञानुसार तूने इन गायकों को विदा क्यों नहीं कर दिया? उसने वास्तविक कारण प्रकट करके वासुदेव से क्षमा माँगी लेकिन वासुदेव उस पर बहुत क्रुध हुए और उनने प्रातःकाल तपाया हुआ शीशा, उस शैया-रक्षक के कानों में डलवा दिया शैया-रक्षक मर गया। इस प्रकार त्रिपृष्ठ वासुदेव ने महा निकाचित अशाता-वेदनीय कर्म उपार्जन किया। अन्त में, त्रिपृष्ठ वासुदेव, उग्र कर्म उपार्जन करके, चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य भोग, सातवें नरक में उत्पन्न हुए।

नयसार अथवा विश्वभूति अथवा त्रिपृष्ठ वासुदेवका जीव, सातवें नरक में कई सागर का आयुष्य भोगकर, केसरीसिंह हुआ। फिर, चौथे पंक प्रभा नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से, मनुष्य तिर्यंच के अनेक भव करके शुभ कर्म के योग से फिर मनुष्य भव पाया और मनुष्य भव का आयुष्य भोग, संयम पाल देवलोक गया।

अपर महाविदेह की मूका नगरी में धनंजय राजा था, जिसकी धारिणी रानी थी। देवलोक का आयुष्य भोग कर त्रिपृष्ठ का जीव धारिणी रानी की कोख में आया। धारिणी रानी ने, चौदह स्वप्न देखे। समय पर धारिणी रानी ने, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। धनंजय राजा ने, बालक का नाम प्रियमित्र रखा।

जब प्रियमित्र बड़ा हुआ, तब धनंजय ने राजपाट उसे सौंप दिया और स्वयं संयम में प्रवर्जित हो गया। प्रियमित्र, न्याय पूर्वक राज्य करने लगा। कुछ काल पश्चात, प्रियमित्र के यहाँ चौदह महारत्न प्रकट हुए। छःखण्ड पृथ्वी को साध प्रियमित्र, चक्रवर्ती हुआ। प्रियमित्र, बहुत काल तक चक्रवर्ती की साहबी भोगता रहा।

एक समय मूका नगरी में पोटिल नाम के आचार्य पधारे। चक्रवर्ती, उन्हें वन्दना करने गया। मुनि के उपदेश से वैराग्य पाकर प्रियमित्र चक्रवर्ती, अपने पुत्र को राज्य सौंप कर संयम में प्रवर्जित हो गया। ज्ञानाभ्यास एवं कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके प्रियमित्र, अनशन द्वारा शरीर त्याग, महा शुक्र नाम के सातवें देवलोक में देव हुआ।

इसी भरत क्षेत्र में, छत्रा नगरी थी। वहाँ, जितशत्रु राजा राज्य करता था। जितशत्रु की रानी का नाम धारिणी था। महाशुक्र देवलोक में सत्रह सागर का आयुष्य भोगकर, प्रियमित्र

का जीव, धारिणी की कोंख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नन्दन नाम रखा गया। जब कुमार नन्द बड़ा हुआ, तब जितशत्रु ने राज-पाट उसे सौंप कर संयम स्वीकार लिया।

नन्द राजा हुआ। वह, चौवीस लाख वर्षों तक सुख पूर्वक राज्य करता रहा। पश्चात् संसार से विरक्त हो, संयम में प्रवर्जित हो गया। संयम में प्रवर्जित होकर नन्द मुनि ने, एक लाख वर्ष तक मास क्षमण का तप किया। अप्रमत्तपने ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना करके और उत्कृष्ट भावों से वीस बोलों का सेवन करके, प्रियमित्र ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशन करके, सब जीवों से क्षमा-याचना पूर्वक विशुद्ध हो, शरीर त्याग, प्राणतकल्प के महा पुष्पोत्तर विमान में, वीस सागर की उत्कृष्ट स्थितिवाला देव हुआ।

—o—

वर्तमान भव।

इसी जम्बू द्वीप में, मनुष्यों के निवास के दस क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में से भरतक्षेत्र, सब से छोटा तो है, परन्तु है सब से अधिक रमणीय। गंगा और सिन्धु के प्रवाह के कारण भरतक्षेत्र, छः भागों में विभक्त हो गया है। इन छः भाग में से मध्य भाग

की रमणीयता, कुछ अलौकिक ही है। अर्थात् पहाड़, नदियों और वृक्षों के कारण विहार और उड़ीसा का प्रदेश चित्ताकर्षक एवं आनन्द दायक है।

विहार-उड़ीसा के प्रदेश में, ब्राह्मणकुण्ड एक ग्राम था। वहाँ, ऋषभदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद का पारंगत था। ऋषभदत्त ऋद्धि-सम्पन्न भी था। ऋषभदत्त की पत्नी का नाम देवानन्दा था, जो बहुत रूपवती होने के साथ ही, पति-अनुगामिनी भी थी।

प्राणत देवलोक के महापुण्डरीक पुष्पोत्तर विमान में बीस सागर का आयुष्य पूर्ण करके नन्द राजा का जीव पूर्व-कर्म अवशेष होने के कारण, आषाढ़ शुक्ला ६ की रात को हस्तोत्तरा नक्षत्र में, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया। सुख-पूर्वक सोती हुई देवानन्दा ने तीर्थङ्कर का जन्म सूचित करनेवाले स्वप्न—हस्ति, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प, चन्द्र, सूर्य, ध्वज, कुंभकलश, पद्म-सरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और अग्निशिखा—को क्रमशः देखा। इन महास्वप्नों को देखकर देवानन्दा जाग उठी। पति के समीप जाकर देवानन्दा ने देखे हुए स्वप्न सुनाये। स्वप्नों को सुनकर, अपनी बुद्धि से विचार, ऋषभदत्त ने देवानन्दा से कहा कि ये स्वप्न बड़े ही उत्तम हैं। इन स्वप्नों के प्रताप से अन्य अनेक लाभ होने के साथ ही तुम्हारी कोख से एक ऐसे पुत्ररत्न

की प्राप्ति होगी, जो वेद-शास्त्र का पारगामी और विद्वानों में शिरोमणि होगा। स्वप्नों का यह फल सुनकर देवानन्दा अत्युत प्रसन्न हुई और यत्न पूर्वक गर्भ का पोषण करने लगीं।

देवानन्दा को गर्भ धारण किये लगभग बयांसी दिन बीते, तब दक्षिण-लोक के स्वामी सौधर्मेन्द्र को अवधिज्ञान द्वारा यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में हैं। वे, तत्क्षण ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में आये। गर्भस्थ भगवान को नमस्कार करके सौधर्मेन्द्र यह विचार करने लगे, कि तीर्थङ्करादि महापुरुष उत्तम कुल में ही उत्पन्न होते हैं, हीन-दीन कुल में उत्पन्न नहीं होते, फिर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर, ब्राह्मणी के गर्भ में क्यों हैं? विचार करते हुए सौधर्मेन्द्र, इस निर्णय पर पहुँचे, कि एक तो भगवान महावीर, पूर्वकृत नाम गोत्र कर्म की प्रकृतियों के कारण ब्राह्मणी के गर्भ में आये हैं, और दूसरे अनन्तकाल में हुंडासर्पिणी के प्रभाव से भी ऐसा होता है। इस निर्णय पर पहुँचकर, सौधर्मेन्द्र ने अपने कर्त्तव्य को दृष्टि में रखकर, भगवान को ऐसे कुल में न जन्मने देने और गर्भस्थ भगवान को उत्तम कुल में जन्माने का निश्चय किया। उन्होंने, तत्क्षण अपने सेनापति हरिणगवेषी देव को बुलाया और उसे आज्ञा दी, कि तुम देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भस्थ अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर को क्षत्रियकुण्ड

ग्राम के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ में पहुँचाओ तथा त्रिशलादेवी के गर्भ में जो कन्या है, उसे देवानन्दा के गर्भ में पहुँचाओ और यह करके मुझे सूचना दो। इन्द्र की आज्ञानुसार कार्य करके हरिणगवेषी देव, गर्भस्थ भगवान से क्षमा प्रार्थना कर, इन्द्र के पास गया, और उनसे प्रार्थना की, कि मैंने आपकी आज्ञानुसार कार्य कर दिया है।

हरिणगवेषी देव ने, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में रहे हुए भगवान महावीर को, आश्विन कृष्णा १३ की रात में, त्रिशलादेवी के गर्भ में पहुँचाया। उसी समय सुख-शैया पर सोई हुई महारानी त्रिशलादेवी ने तीर्थङ्कर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देखकर महारानी त्रिशिला जाग उठीं और देखे हुए स्वप्न, पति को सुनाये। स्वप्नों को सुनकर, महाराजा सिद्धार्थ ने, महारानी त्रिशलादेवी से कहा, कि तुमने बहुत अच्छे स्वप्न देखे हैं; इन स्वप्नों के प्रभाव से तुम अद्वितीय-प्रतापी पुत्र की माता बनोगी। यह सुनकर महारानी त्रिशलादेवी बहुत प्रसन्न हुईं। प्रातःकाल महाराजा सिद्धार्थ ने स्वप्न पाठकों को बुलाकर उनसे महारानी त्रिशलादेवी के देखे हुए स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने कहा, कि स्वप्न के प्रभाव से महारानी, त्रिलोक पूज्य पुत्र को जन्म देंगी। स्वप्नों का फल सुनकर दम्पति को प्रसन्नता हुई।

भगवान महावीर जिस दिन से गर्भ में पधारे, उस दिन से राजा सिद्धार्थ के यहाँ धन धान्य सुख सम्पत्ति और राज्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। महाराजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला देवी ने इसे गर्भ का ही प्रताप समझ कर यह निश्चय किया, कि गर्भस्थ बालक, जब उत्पन्न होगा, तब उसका नाम वर्द्धमान देंगे।

गर्भस्थ भगवान ने, अनन्त दयालुता के कारण यह विचार कर माता के पेट में हिलना डुलना बन्द कर दिया, कि मेरे हिलने डुलने से माता को कष्ट होता होगा। इस प्रकार माता पर अनुकम्पा करके भगवान ने अपने अंग संकोच लिए। लेकिन इस घटना से त्रिशला देवी को और दुःख हुआ। वे विचारने लगीं, कि मेरे गर्भ को क्या हो गया, जो स्थिर है ! इस प्रकार त्रिशला देवी की शारीरिक पीड़ा तो कम हुई, परन्तु मानसिक पीड़ा बढ़ गई। वे, चिन्ता-सागर में गोते लगाने लगीं। राज-महल में होने वाले वाद्यगीत भी बन्द हो गये। गर्भस्थ भगवान ने देखा कि मेरे अंगोपांग सिकोड़ने से तो माता को और कष्ट हो रहा है, जो मुझे इष्ट नहीं है, तो उन्होंने, तत्क्षण अंगसंचालन किया। भगवान के अंगसंचालन करते ही, त्रिशला देवी की चिन्ता मिट गई और वे पूर्ववत् प्रसन्न रहने लगीं। त्रिशलादेवी के इस, गर्भस्थ-पुत्र-प्रेम को दृष्टि में रख कर, भगवान ने गर्भ में ही यह प्रतिज्ञा

की, कि जन्म लेने के पश्चात् मैं अपने माता-पिता को अपनी ओर से किसी भी प्रकार दुःख न होने दूँगा, चाहे इस प्रतिज्ञा का पालन करने में, मुझे कुछ समय के लिए संयम लेने का कार्य स्थगित ही क्यों न रखना पड़े !

गर्भकाल समाप्त होने पर, आनन्द-दायक वसन्त ऋतु के चैत्र मास की शुक्लपक्षीय त्रयोदशी की सुहावनी रात को—जब सब ग्रह नक्षत्र उच्च स्थान पर थे—भगवान महावीर ने, महारानी त्रिशला देवी की कोख से जन्म लिया। एक सहस्र आठ लक्षणों के धारक दिव्य कान्तिवाले स्वर्ण वर्ण के अनुपम बालक-भगवान महावीर का जन्म होते ही क्षण भर के लिए त्रिलोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। प्रकृति में भी नवचेतन का संचार हुआ। जन्म स्थान पर, भगवान का जन्म होने के पहले से ही छप्पनदिक् कुमारियाँ उपस्थित थीं। उन्होंने, सूति-कर्म करके जन्म-महोत्सव किया। उसी समय अच्युतादि त्रेसठ इन्द्र तो अपने परिवार सहित मेरु पर्वत पर पधारे और सौधर्मपति शक्रेन्द्र, भगवान के जन्मस्थान पर पधारे। वहाँ भगवान और त्रिशिला माता को वन्दन करके, शक्रेन्द्र ने, त्रिशिला माता को अपना परिचय देते हुए प्रार्थना की कि हम भगवान का जन्म कल्याण मनाने के लिए आये हैं। यह प्रार्थना करके, माता को अवस्वापिनी निद्रा दे और माता के समीप प्रभु

का प्रतिबिम्ब रख, भगवान को अपने हाथों में उठा कर शक्रेन्द्र, जय जयकार के मध्य भगवान को मन्दराचल पर्वत पर लाये। वहाँ, विधिवत भगवान का जन्मकल्याण महोत्सव किया। भगवान को स्नान कराते समय भगवान का छोटा शरीर देख कर शक्रेन्द्र के मन में शंका हुई। अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र के मन की शंका जान कर भगवान ने, सारे पर्वत को कम्पायमान कर दिया और इस प्रकार इन्द्र की शंका निवारण की। इस घटना को दृष्टि में रख कर ही देवों ने, भगवान का नाम महावीर दिया।
भगवान का जन्मकल्याण-महोत्सव मनाकर शक्रेन्द्र, उसी रात में भगवान को माता के पास रख कर माता की अवस्वापिनी निद्रा हरण कर, अपने स्थान को गये। प्रातःकाल महाराजा सिद्धार्थ ने पुत्र जन्मोत्सव मना कर, भगवान का नाम वर्द्धमान रक्खा। अनेक धाइयों के संरक्षण में भगवान, वृद्धि पाने लगे।

यद्यपि तीर्थङ्कर जन्म से ही अवधिज्ञान युक्त होते हैं, उन्हें किसी विद्या या कला के सीखने की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी भगवान महावीर, माता-पिता की आज्ञा मान कर, सात वर्ष से कुछ अधिक अवस्था में, कलाचार्य के पास कला सीखने के लिए गये। कलाचार्य के पास भगवान विद्याध्ययन कर रहे थे, उस समय इन्द्र, पण्डित का रूप बनाकर, पाठशाला में गये। इन्द्र ने, कुमार वर्द्धमान से कई विकट प्रश्न किये। कुमार वर्द्धमान ने,

इन्द्र के प्रश्नों का सुयोग्यता-पूर्वक उत्तर दिया, उसे देख कर, कलाचार्य को भी दंग रह जाना पड़ा। कलाचार्य विचारने लगे, कि जिन प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं दे सकता, उन प्रश्नों का उत्तर देनेवाले को मैं क्या पढ़ाऊँगा! इस प्रकार विचार कर, कलाचार्य ने, महाराजा सिद्धार्थ से कहा कि कुमार वर्द्धमान तो मेरे भी गुरु हैं, मैं इन्हें क्या पढ़ाऊँ! आप इन्हें लिवा जाइये! कलाचार्य की बात सुन कर, महाराजा सिद्धार्थ, महोत्सव-पूर्वक भगवान को महलों में ले आये।

भगवान महावीर के एक बड़े भाई थे जिनका नाम नन्दि-वर्द्धन था। इसी प्रकार सुदर्शना नाम्नी एक बहन भी थी।

वृद्धि पाते हुए भगवान महावीर युवक हुए। उस समय उनका उत्कृष्ट रूप सम्पन्न सात हाथ ऊँचा सुडौल शरीर बहुत ही सुन्दर मालूम होता था। माता-पिता का आग्रह और भोग फल देने वाले कर्म अवशेष देख कर, भगवान महावीर ने यशोदा नाम्नी राजकन्या के साथ विवाह किया। दम्पति, सुख पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात्, यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम प्रियदर्शना था और जो जामाली के साथ व्याही गई थी।

भगवान महावीर अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में थे, तब भगवान के माता-पिता धर्मध्यान करते हुए परलोक वासी हो गये।

भगवान के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन, मात-पिता के स्वर्गवास से बहुत दुःखी हुए; लेकिन भगवान महावीर, वस्तुस्वरूप का विचार करके माता-पिता के वियोग को शान्तिपूर्वक सहन किया और और अपने भ्राता नन्दिवर्द्धन को भी उपदेश द्वारा धैर्य दिलाया।

राज-नियम के अनुसार, पिता की राजगादी पर, बड़े भाई का ही अधिकार होता है, लेकिन महाराजा सिद्धार्थ के बड़े पुत्र नन्दिवर्द्धन ने विचार किया कि कुमार वर्द्धमान, बलवान और राज्य करने के योग्य हैं, और बलवानों को ही राज्य प्राप्त भी होता है, अतः मेरे लिए यही उचित है, कि मैं पिता के राज्यासन पर, कुमार वर्द्धमान को आरूढ़ करूँ। इस प्रकार विचार कर नन्दिवर्द्धन, कुमार वर्द्धमान से कहने लगे, कि—पिता का राज-भार तुम स्वीकार करो। वर्द्धमान ने, भाई को उत्तर दिया कि राज्य के अधिकारी आप हैं, अतः आप ही राज्य करिये। मैं, ऐसा राज्य नहीं लेना चाहता, जिसमें अशान्ति ही अशान्ति हो; मैं तो वह राज्य चाहता हूँ, कि जिसमें अशान्ति का चिन्ह भी न हो। अन्त में, महाराजा सिद्धार्थ के स्थान पर, नन्दिवर्द्धन राजा हुए।

दीर्घकाल से दीक्षा लेने के लिए, उत्सुक होते हुए भी, भगवान महावीर, माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो, इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम में ठहरे हुए थे। माता-पिता का स्वर्गवास होने के पश्चात् भगवान ने, अपने भ्राता नन्दिवर्द्धन से—दीक्षा

लेने के लिए अनुमति माँगी। भगवान की बात सुनकर, नन्दि-वर्द्धन, आँखों में आँसू भरकर, भगवान से कहने लगे, कि—अभी मैं माता-पिता के वियोग का दुःख तो विस्मृत कर ही नहीं सका हूँ. फिर आप यह क्या कह रहे हैं! आप इसी समय अपने वियोग के दुःख से मुझे और दुःखी क्यों करना चाहते हैं! वैसे तो आप गृह में रहते हुए भी गृहत्यागी के ही समान हैं, लेकिन गृह त्याग कर, मुझे और दुःखी न बनाइये। इस पर भी यदि आपकी इच्छा संयम लेने की ही है, तो अभी थोड़े दिन और ठहरिये, फिर जैसा आप उचित समझें वैसा करना। भ्राता की बात मानकर भगवान, एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृह में ही, भाव-यति होकर रहे। पश्चात्, लोकान्तिक देवों ने उप-स्थित होकर भगवान से धर्मतीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की। भगवान ने,उसी समय से वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने, भगवान के भण्डार भर दिये और भगवान नित्यप्रति एक क्रोड़ आठ लाख सोनैये का दान देने लगे।

वार्षिक दान की समाप्ति पर, राजा नन्दिवर्द्धन ने, बड़े दुःख के साथ भगवान को दीक्षा लेने की स्वीकृति दी। राजा नन्दि-वर्द्धन तथा इन्द्रादि देवों ने, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया। भगवान वर्द्धमान, चन्द्रप्रभा शिविका में विराज कर, क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्य में होते हुए ज्ञातखण्ड उद्यान में पधारे। वहाँ,

सब आभूषण त्याग कर, छट्ठ के तप में पञ्चमुष्टि लोंच करके, मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दिन के पिछले पहर में जब चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आया हुआ था—भगवान ने संयम स्वीकार किया। उसी समय भगवान को, मनः पर्यय नामका चौथा ज्ञान उत्पन्न हुआ। राजा नन्दिवर्द्धन आदि, भगवान को वन्दन करके अपने स्थान को आये और भगवान, अन्यत्र विहार कर गये।

विहार करते हुए जब संध्या हुई, तब भगवान जंगल में ही ध्यान धर कर खड़े हो गये। इतने ही में, कुछ ग्वाले वहाँ आ गये। वे भगवान से बोले, कि हम कुछ काम करके फिर आते हैं, तब तक तुम हमारी इन गायों की सम्हाल रखना, ये कहीं चली न जावें। प्रभु महावीर ध्यान में मग्न थे। वे, यह जानते ही न थे, कि कौन क्या कह रहा है! इसके सिवा गृह-संसार-त्यागी भगवान, गायें सम्हालने के प्रपंच में भी क्यों पड़ने लगे थे! ग्वाले, भगवान से गायें सम्हालने का कह कर चले गये, लेकिन जब वापस आये, तब उन्हें गायें वहाँ न मिलीं, तितिर-बितिर होकर कहीं चली गई थीं। वे भगवान से पूछने लगे कि गायें कहाँ हैं? लेकिन भगवान ध्यान में थे, इससे उन्होंने कुछ भी उत्तर न दिया। तब ग्वाले, क्रुद्ध होकर कहने लगे, कि हम गायें इस धूर्त को सम्हलवागये थे, इसीने गायों को कहीं छिपाया है और अब पूछने पर बोलता भी नहीं है! उन

ग्रीव को जा सुनाया। यह घटना सुनकर, अश्वग्रीव की चिन्ता और बढ़ गई।

उन्हीं दिनों विश्वभूति का भाई (विश्वभूति मुनि का उपहास करने वाला) विशाखनन्दी कुमार, भव-भ्रमण करके, तुंगगिरि की तराई में केसरी सिंह हुआ था। वह सिंह, बहुत बलवान, क्रोधी और जनता के लिये भय का कारण था। इस सिंह के भय से, तुंगगिरि के समीपस्थ शंखपुर के प्रदेश के शालि-खेत की रक्षा करना, प्रजा के लिए असम्भव हो गया था। इसलिए राजा अश्वग्रीव अपने आज्ञाकारी राजाओं को शंखपुर-प्रदेश की प्रजा की सहायता के लिए भेजा करता था।

एक बार, शंखपुर के शालि खेतों की रक्षा करनेवाले कृषकों की सहायता के लिए राजा रिपुप्रतिशत्रु के जाने का क्रम आया। राजा, रिपुप्रतिशत्रु, अपने दोनों पुत्रों को राज्य सम्हला कर, शंखपुर की ओर जाने को तयार हुए। तब त्रिपृष्ठ कुमार ने रिपुप्रतिशत्रु से कहा—पिताजी, ऐसे तुच्छ कार्य के लिए आपका जाना ठीक नहीं है, आप यहीं रहिये, हम दोनों भाई जाते हैं। राजा रिपुप्रतिशत्रु ने बहुत रोका, परन्तु त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल बलदेव, पिता की आज्ञा लेकर गये ही।

निश्चित स्थान पर पहुँच कर, त्रिपृष्ठ वासुदेव ने, वहाँ के लोगों से पूछा कि यहाँ रक्षा करने के लिए आने वाले राजा

लोग, क्या करते हैं ? लोगों ने उत्तर दिया, कि शालि-खेत को चारों ओर सेना का कोट बनाकर तब तक रहते हैं, जब तक कि शालि कट नहीं जाती। त्रिपृष्ट ने कहा कि इतने समय तक पड़े रहना, मेरे लिए तो व्यर्थ ही है। तुम लोग मुझे वह सिंह बता दो, कि मैं उसे मार डालूँ।

लोगों ने, त्रिपृष्ट कुमार के साथ जाकर, उन्हें वह सिंह बता दिया। त्रिपृष्टकुमार रथ तथा अस्त्र-शस्त्र छोड़ निःसस्त्र हो सिंह से युद्ध करने लगे। युद्ध करते हुए त्रिपृष्ट कुमार ने, सिंह को पकड़ कर चीर डाला। क्रोध और दुःख के मारे सिंह, तड़फड़ाने लगा। उस समय त्रिपृष्ट कुमार के सारथी ने सिंह से कहा कि— हे पशुराज, तू किसी साधारण मनुष्य से नहीं मारा गया है, किन्तु पुरुषोत्तम के हाथ से मारा गया है। अतः वृथा दुःख न कर, न अपना अपमान मान। सारथी की वाणी से सिंह को सन्तोष हुआ और वह पंचत्व को प्राप्त हुआ। देवताओं ने त्रिपृष्ट पर पुष्पादि की वर्षा की।

अश्वग्रीव प्रति वासुदेव ने त्रिपृष्ट द्वारा सिंह के मारे जाने का समाचार सुना। नैमित्तिक के कहे हुए लक्षण ठीक जानकर, अश्वग्रीव को बहुत दुःख हुआ। वह, त्रिपृष्ट की ओर से सशंक रहने लगा।

वैताढ्य गिरि पर, विद्याधरों की श्रेणी में, रथनूपुर-चक्रवाल् नामक नगर था। वहाँ ज्वलनजटी नाम का विद्याधर राजा राज्य

करता था। विद्याधर ज्वलनजटी की अनुपम सुन्दरी स्वयंप्रभा नाम्नी कन्या थी। जब स्वयंप्रभा सयानी हुई, तब ज्वलनजटी विचार करने लगा, कि मैं यह कन्या-रत्न किसे दूँ! इतने ही में एक नैमित्तिक आया। नैमित्तिक ने ज्वलनजटी से कहा, कि पोतनपुर के रिपुप्रतिशत्रु राजा का पुत्र त्रिपृष्ट कुमार, इस कन्या के योग्य वर है। त्रिपृष्ट कुमार, थोड़े ही समय में राजा अश्वग्रीव को मार कर त्रिखण्ड पृथ्वीपति प्रथम वासुदेव होगा और आपको वह विद्याधरों की दोनो श्रेणी का अधिपति बनावेगा। नैमित्तिक की बात मान कर, ज्वलनजटी ने, स्वयंप्रभा का विवाह, त्रिपृष्ट के साथ कर दिया। जब यह समाचार अश्वग्रीव ने सुना, तब वह यह विचार कर ज्वलनजटी पर क्रुद्ध हुआ, कि उसने स्वयंप्रभा का विवाह, मेरे शत्रु त्रिपृष्ट के साथ क्यों किया, मेरे साथ क्यों नहीं किया! अश्वग्रीव ने, त्रिपृष्ट और ज्वलनजटी के विरुद्ध युद्ध ठान दिया। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ट में घोर युद्ध हुआ। अन्त में, अश्वग्रीव को मारकर, त्रिपृष्ट, तीन खण्ड पृथ्वी को साध, प्रथम वासुदेव हुए। भरतार्द्ध के समस्त राजाओं ने, त्रिपृष्ट वासुदेव का आधिपत्य स्वीकार किया।

त्रिपृष्ट नारायण, तीन खण्ड पृथ्वी का उपभोग करता हुआ, सुखपूर्वक काल बिताने लगा। उस समय ग्यारहवें तीर्थङ्कर भगवान श्रेयांशनाथ, पोतनपुर पधारे। वासुदेव त्रिपृष्ट ने, भगवान

से समकित प्राप्त की लेकिन भोगों में बहुत अधिक मूर्छित रहने के कारण, वासुदेव ने, सम्यक्त्व को भी भुला दिया। एक समय, श्रेष्ठ गायक गा रहे थे। शयन करते समय वासुदेव ने, शैया-रक्षक को यह आज्ञा दी, कि जब मुझे नींद आ जावे, तब गायकों को विदा कर देना। शैया-रक्षक, गायकों के गीत पर ऐसा मुग्ध हुआ, कि वह वासुदेव की आज्ञा को विस्मृत हो गया। वासुदेव जब जागे, तब गायकों का गीत सुनाई दिया। उन्होंने, शय्या-रक्षक से पूछा, कि मेरी आज्ञानुसार तूने इन गायकों को विदा क्यों नहीं कर दिया? उसने वास्तविक कारण प्रकट करके वासुदेव से क्षमा माँगी लेकिन वासुदेव उस पर बहुत क्रुध हुए और उनने प्रातःकाल तपाया हुआ शीशा, उस शैया-रक्षक के कानों में डलवा दिया शैया-रक्षक मर गया। इस प्रकार त्रिपृष्ठ वासुदेव ने महा निकाचित अशाता-वेदनीय कर्म उपार्जन किया। अन्त में, त्रिपृष्ठ वासुदेव, उग्र कर्म उपार्जन करके, चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य भोग, सातवें नरक में उत्पन्न हुए।

नयसार अथवा विश्वभूति अथवा त्रिपृष्ठ वासुदेवका जीव, सातवें नरक में कई सागर का आयुष्य भोगकर, केसरीसिंह हुआ। फिर, चौथे पंक प्रभा नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से, मनुष्य तिर्यंच के अनेक भव करके शुभ कर्म के योग से फिर मनुष्य भव पाया और मनुष्य भव का आयुष्य भोग, संयम पाल देवलोक गया।

अपर महाविदेह की मूका नगरी में धनंजय राजा था, जिसकी धारिणी रानी थी। देवलोक का आयुष्य भोग कर त्रिपृष्ट का जीव धारिणी रानी की कोख में आया। धारिणी रानी ने, चौदह स्वप्न देखे। समय पर धारिणी रानी ने, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। धनंजय राजा ने, बालक का नाम प्रियमित्र रखा।

जब प्रियमित्र बड़ा हुआ, तब धनंजय ने राजपाट उसे सौंप दिया और स्वयं संयम में प्रवर्जित हो गया। प्रियमित्र, न्याय पूर्वक राज्य करने लगा। कुछ काल पश्चात्, प्रियमित्र के यहाँ चौदह महारत्न प्रकट हुए। छः खण्ड पृथ्वी को साध प्रियमित्र, चक्रवर्ती हुआ। प्रियमित्र, बहुत काल तक चक्रवर्ती की साहबी भोगता रहा।

एक समय मूका नगरी में पोटिल नाम के आचार्य पधारे। चक्रवर्ती, उन्हें वन्दना करने गया। मुनि के उपदेश से वैराग्य पाकर प्रियमित्र चक्रवर्ती, अपने पुत्र को राज्य सौंप कर संयम में प्रवर्जित हो गया। ज्ञानाभ्यास एवं कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके प्रियमित्र, अनशन द्वारा शरीर त्याग, महा शुक्र नाम के सातवें देवलोक में देव हुआ।

इसी भरत क्षेत्र में, छत्रा नगरी थी। वहाँ, जितशत्रु राजा राज्य करता था। जितशत्रु की रानी का नाम धारिणी था। महाशुक्र देवलोक में सत्रह सागर का आयुष्य भोगकर, प्रियमित्र

का जीव, धारिणी की कोंख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नन्दन नाम रखा गया। जब कुमार नन्द बड़ा हुआ, तब जितशत्रु ने राज-पाट उसे सौंप कर संयम स्वीकार लिया।

नन्द राजा हुआ। वह, चौवीस लाख वर्षों तक सुख पूर्वक राज्य करता रहा। पश्चात् संसार से विरक्त हो, संयम में प्रवर्जित हो गया। संयम में प्रवर्जित होकर नन्द मुनि ने, एक लाख वर्ष तक मास क्षमण का तप किया। अप्रमत्तपने ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना करके और उत्कृष्ट भावों से वीस बोलों का सेवन करके, प्रियमित्र ने, तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशन करके, सब जीवों से क्षमा-याचना पूर्वक विशुद्ध हो, शरीर त्याग, प्राणतकल्प के महा पुष्पोत्तर विमान में, वीस सागर की उत्कृष्ट स्थितिवाला देव हुआ।

—o—

वर्तमान भव

इसी जम्बू द्वीप में, मनुष्यों के निवास के दस क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में से भरतक्षेत्र, सब से छोटा तो है, परन्तु है सब से अधिक रमणीय। गंगा और सिन्धु के प्रवाह के कारण भरतक्षेत्र, छः भागों में विभक्त हो गया है। इन छः भाग में से मध्य भाग

की रमणीयता, कुछ अलौकिक ही है। अर्थात् पहाड़, नदियों और वृक्षों के कारण बिहार और उड़ीसा का प्रदेश चित्ताकर्षक एवं आनन्द दायक है।

बिहार-उड़ीसा के प्रदेश में, ब्राह्मणकुण्ड एक ग्राम था। वहाँ, ऋषभदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद का पारंगत था। ऋषभदत्त ऋद्धि-सम्पन्न भी था। ऋषभदत्त की पत्नी का नाम देवानन्दा था, जो बहुत रूपवती होने के साथ ही, पति-अनुगामिनी भी थी।

प्राणत देवलोक के महापुण्डरीक पुष्पोत्तर विमान में बीस सागर का आयुष्य पूर्ण करके नन्द राजा का जीव पूर्व-कर्म अवशेष होने के कारण, आषाढ़ शुक्ला ६ की रात को हस्तोत्तरा नक्षत्र में, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया। सुख-पूर्वक सोती हुई देवानन्दा ने तीर्थङ्कर का जन्म सूचित करनेवाले स्वप्न—हस्ति, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प, चन्द्र, सूर्य, ध्वज, कुंभकलश, पद्म-सरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और अग्निशिखा—को क्रमशः देखा। इन महास्वप्नों को देखकर देवानन्दा जाग उठी। पति के समीप जाकर देवानन्दा ने देखे हुए स्वप्न सुनाये। स्वप्नों को सुनकर, अपनी बुद्धि से विचार, ऋषभदत्त ने देवानन्दा से कहा कि ये स्वप्न बड़े ही उत्तम हैं। इन स्वप्नों के प्रताप से अन्य अनेक लाभ होने के साथ ही तुम्हारी कोंख से एक ऐसे पुत्ररत्न

की प्राप्ति होगी, जो वेद-शास्त्र का पारगामी और विद्वानों में शिरोमणि होगा। स्वप्नों का यह फल सुनकर देवानन्दा बहुत प्रसन्न हुई और यत्न पूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी।

देवानन्दा को गर्भ धारण किये लगभग बयांसी दिन बीते, तब दक्षिण-लोक के स्वामी सौधर्मेन्द्र को अवधिज्ञान द्वारा यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में हैं। वे, तत्क्षण ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में आये। गर्भस्थ भगवान को नमस्कार करके सौधर्मेन्द्र यह विचार करने लगे, कि तीर्थङ्करादि महापुरुष उत्तम कुल में ही उत्पन्न होते हैं, हीन-दीन कुल में उत्पन्न नहीं होते, फिर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर, ब्राह्मणी के गर्भ में क्यों हैं? विचार करते हुए सौधर्मेन्द्र, इस निर्णय पर पहुँचे, कि एक तो भगवान महावीर, पूर्वकृत नाम गोत्र कर्म की प्रकृतियों के कारण ब्राह्मणी के गर्भ में आये हैं, और दूसरे अनन्तकाल में हुंडासर्पिणी के प्रभाव से भी ऐसा होता है। इस निर्णय पर पहुँचकर, सौधर्मेन्द्र ने अपने कर्त्तव्य को दृष्टि में रखकर, भगवान को ऐसे कुल में न जन्मने देने और गर्भस्थ भगवान को उत्तम कुल में जन्माने का निश्चय किया। उन्होंने, तत्क्षण अपने सेनापति हरिणगवेषी देव को बुलाया और उसे आज्ञा दी, कि तुम देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भस्थ अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर को क्षत्रियकुण्ड

ग्राम के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ में पहुँचाओ तथा त्रिशलादेवी के गर्भ में जो कन्या है, उसे देवानन्दा के गर्भ में पहुँचाओ और यह करके मुझे सूचना दो। इन्द्र की आज्ञानुसार कार्य करके हरिणगवेषी देव, गर्भस्थ भगवान से क्षमा प्रार्थना कर, इन्द्र के पास गया, और उनसे प्रार्थना की, कि मैंने आपकी आज्ञानुसार कार्य कर दिया है।

हरिणगवेषी देव ने, देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में रहे हुए भगवान महावीर को, आश्विन कृष्णा १३ की रात में, त्रिशलादेवी के गर्भ में पहुँचाया। उसी समय सुख-शैया पर सोई हुई महारानी त्रिशलादेवी ने तीर्थङ्कर के गर्भ सूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देखकर महारानी त्रिशिला जाग उठीं और देखे हुए स्वप्न, पति को सुनाये। स्वप्नों को सुनकर, महाराजा सिद्धार्थ ने, महारानी त्रिशलादेवी से कहा, कि तुमने बहुत अच्छे स्वप्न देखे हैं; इन स्वप्नों के प्रभाव से तुम अद्वितीय-प्रतापी पुत्र की माता बनोगी। यह सुनकर महारानी त्रिशलादेवी बहुत प्रसन्न हुईं। प्रातःकाल महाराजा सिद्धार्थ ने स्वप्न पाठकों को बुलाकर उनसे महारानी त्रिशलादेवी के देखे हुए स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने कहा, कि स्वप्न के प्रभाव से महारानी, त्रिलोक पूज्य पुत्र को जन्म देंगी। स्वप्नों का फल सुनकर दम्पति को प्रसन्नता हुई।

भगवान महावीर जिस दिन से गर्भ में पधारे, उस दिन से राजा सिद्धार्थ के यहाँ धन धान्य सुख सम्पत्ति और राज्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। महाराजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला देवी ने इसे गर्भ का ही प्रताप समझ कर यह निश्चय किया, कि गर्भस्थ बालक, जब उत्पन्न होगा, तब उसका नाम वर्द्धमान देंगे।

गर्भस्थ भगवान ने, अनन्त दयालुता के कारण यह विचार कर माता के पेट में हिलना डुलना बन्द कर दिया, कि मेरे हिलने डुलने से माता को कष्ट होता होगा। इस प्रकार माता पर अनुकम्पा करके भगवान ने अपने अंग संकोच लिए। लेकिन इस घटना से त्रिशला देवी को और दुःख हुआ। वे विचारने लगीं, कि मेरे गर्भ को क्या हो गया, जो स्थिर है ! इस प्रकार त्रिशला देवी की शारीरिक पीड़ा तो कम हुई, परन्तु मानसिक पीड़ा बढ़ गई। वे, चिन्ता-सागर में गोते लगाने लगीं। राज-महल में होने वाले वाद्यगीत भी बन्द हो गये। गर्भस्थ भगवान ने देखा कि मेरे अंगोपांग सिकौड़ने से तो माता को और कष्ट हो रहा है, जो मुझे इष्ट नहीं है, तो उन्होंने, तत्क्षण अंगसंचालन किया। भगवान के अंगसंचालन करते ही, त्रिशला देवी की चिन्ता मिट गई और वे पूर्ववत् प्रसन्न रहने लगीं। त्रिशलादेवी के इस गर्भस्थ-पुत्र-प्रेम को दृष्टि में रख कर, भगवान ने गर्भ में ही यह प्रतिज्ञा

की, कि जन्म लेने के पश्चात् मैं अपने माता-पिता को अपनी ओर से किसी भी प्रकार दुःख न होने दूँगा, चाहे इस प्रतिज्ञा का पालन करने में, मुझे कुछ समय के लिए संयम लेने का कार्य स्थगित ही क्यों न रखना पड़े !

गर्भकाल समाप्त होने पर, आनन्द-दायक वसन्त ऋतु के चैत्र मास की शुक्लपक्षीय त्रयोदशी की सुहावनी रात को—जब सब ग्रह नक्षत्र उच्च स्थान पर थे—भगवान महावीर ने, महारानी त्रिशला देवी की कोंख से जन्म लिया। एक सहस्र आठ लक्षणों के धारक दिव्य कान्तिवाले स्वर्ण वर्ण के अनुपम बालक-भगवान महावीर का जन्म होते ही क्षण भर के लिए त्रिलोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली। प्रकृति में भी नवचेतन का संचार हुआ। जन्म स्थान पर, भगवान का जन्म होने के पहले से ही छप्पनदिक् कुमारियाँ उपस्थित थीं। उन्होंने, सूति-कर्म करके जन्म-महोत्सव किया। उसी समय अच्युतादि त्रेसठ इन्द्र तो अपने परिवार सहित मेरु पर्वत पर पधारे और सौधर्मपति शक्रेन्द्र, भगवान के जन्मस्थान पर पधारे। वहाँ भगवान और त्रिशिला माता को वन्दन करके, शक्रेन्द्र ने, त्रिशिला माता को अपना परिचय देते हुए प्रार्थना की कि हम भगवान का जन्म कल्याण मनाने के लिए आये हैं। यह प्रार्थना करके, माता को अवस्वापिनी निद्रा दे और माता के समीप प्रभु

का प्रतिबिम्ब रख, भगवान को अपने हाथों में उठा कर शक्रेन्द्र, जय जयकार के मध्य भगवान को मन्दराचल पर्वत पर लाये। वहाँ, विधिवत भगवान का जन्मकल्याण महोत्सव किया। भगवान को स्नान कराते समय भगवान का छोटा शरीर देख कर शक्रेन्द्र के मन में शंका हुई। अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र के मन की शंका जान कर भगवान ने, सारे पर्वत को कम्पायमान कर दिया और इस प्रकार इन्द्र की शंका निवारण की। इस घटना को दृष्टि में रख कर ही देवों ने, भगवान का नाम महावीर दिया।

भगवान का जन्मकल्याण-महोत्सव मनाकर शक्रेन्द्र, उसी रात में भगवान को माता के पास रख कर माता की अवस्वापिनी निद्रा हरण कर, अपने स्थान को गये। प्रातःकाल महाराजा सिद्धार्थ ने पुत्र जन्मोत्सव मना कर, भगवान का नाम वर्द्धमान रखा। अनेक धाइयों के संरक्षण में भगवान, वृद्धि पाने लगे।

यद्यपि तीर्थङ्कर जन्म से ही अवधिज्ञान युक्त होते हैं, उन्हें किसी विद्या या कला के सीखने की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी भगवान महावीर, माता-पिता की आज्ञा मान कर, सात वर्ष से कुछ अधिक अवस्था में, कलाचार्य के पास कला सीखने के लिए गये। कलाचार्य के पास भगवान विद्याध्ययन कर रहे थे, उस समय इन्द्र, पण्डित का रूप बनाकर, पाठशाला में गये। इन्द्र ने, कुमार वर्द्धमान से कई विकट प्रश्न किये। कुमार वर्द्धमान ने,

इन्द्र के प्रश्नों का सुयोग्यता-पूर्वक उत्तर दिया, उसे देख कर, कलाचार्य को भी दंग रह जाना पड़ा। कलाचार्य विचारने लगे, कि जिन प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं दे सकता, उन प्रश्नों का उत्तर देने वाले को मैं क्या पढ़ाऊँगा! इस प्रकार विचार कर, कलाचार्य ने, महाराजा सिद्धार्थ से कहा कि कुमार वर्द्धमान तो मेरे भी गुरु हैं, मैं इन्हें क्या पढ़ाऊँ! आप इन्हें लिवा जाइये! कलाचार्य की बात सुन कर, महाराजा सिद्धार्थ, महोत्सव-पूर्वक भगवान को महलों में ले आये।

भगवान महावीर के एक बड़े भाई थे जिनका नाम नन्दिवर्द्धन था। इसी प्रकार सुदर्शना नाम्नी एक बहन भी थी।

वृद्धि पाते हुए भगवान महावीर युवक हुए। उस समय उनका उत्कृष्ट रूप सम्पन्न सात हाथ ऊँचा सुडौल शरीर बहुत ही सुन्दर मालूम होता था। माता-पिता का आग्रह और भोग फल देने वाले कर्म अवशेष देख कर, भगवान महावीर ने यशोदा नाम्नी राजकन्या के साथ विवाह किया। दम्पति, सुख पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात्, यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम प्रियदर्शना था और जो जामाली के साथ ब्याही गई थी।

भगवान महावीर अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में थे, तब भगवान के माता-पिता धर्मध्यान करते हुए परलोक वासी हो गये।

भगवान के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन, मात-पिता के स्वर्गवास से बहुत दु:खी हुए; लेकिन भगवान महावीर, वस्तुस्वरूप का विचार करके माता-पिता के वियोग को शान्तिपूर्वक सहन किया और और अपने भ्राता नन्दिवर्द्धन को भी उपदेश द्वारा धैर्य दिलाया।

राज-नियम के अनुसार, पिता की राजगादी पर, बड़े भाई का ही अधिकार होता है, लेकिन महाराजा सिद्धार्थ के बड़े पुत्र नन्दिवर्द्धन ने विचार किया कि कुमार वर्द्धमान, बलवान और राज्य करने के योग्य हैं, और बलवानों को ही राज्य प्राप्त भी होता है, अत: मेरे लिए यही उचित है, कि मैं पिता के राज्यासन पर, कुमार वर्द्धमान को आरूढ़ करूँ। इस प्रकार विचार कर नन्दिवर्द्धन, कुमार वर्द्धमान से कहने लगे, कि—पिता का राज-भार तुम स्वीकार करो। वर्द्धमान ने, भाई को उत्तर दिया कि राज्य के अधिकारी आप हैं, अत: आप ही राज्य करिये। मैं, ऐसा राज्य नहीं लेना चाहता, जिसमें अशान्ति ही अशान्ति हो; मैं तो वह राज्य चाहता हूँ, कि जिसमें अशान्ति का चिन्ह भी न हो। अन्त में, महाराजा सिद्धार्थ के स्थान पर, नन्दिवर्द्धन राजा हुए।

दीर्घकाल से दीक्षा लेने के लिए, उत्सुक होते हुए भी, भगवान महावीर, माता-पिता को मेरे वियोग का दु:ख न हो, इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम में ठहरे हुए थे। माता-पिता का स्वर्गवास होने के पश्चात् भगवान ने, अपने भ्राता नन्दिवर्द्धन से—दीक्षा

लेने के लिए अनुमति माँगी। भगवान की बात सुनकर, नन्दि-वर्द्धन, आँखों में आँसू भरकर, भगवान से कहने लगे, कि—अभी मैं माता-पिता के वियोग का दुःख तो विस्मृत कर ही नहीं सका हूँ. फिर आप यह क्या कह रहे हैं! आप इसी समय अपने वियोग के दुःख से मुझे और दुःखी क्यों करना चाहते हैं! वैसे तो आप गृह में रहते हुए भी गृहत्यागी के ही समान हैं, लेकिन गृह त्याग कर, मुझे और दुःखी न बनाइये। इस पर भी यदि आपकी इच्छा संयम लेने की ही है, तो अभी थोड़े दिन और ठहरिये, फिर जैसा आप उचित समझें वैसा करना। भ्राता की बात मानकर भगवान, एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृह में ही, भाव-यति होकर रहे। पश्चात्, लोकान्तिक देवों ने उप-स्थित होकर भगवान से धर्मतीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की। भगवान ने,उसी समय से वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने, भगवान के भण्डार भर दिये और भगवान नित्यप्रति एक क्रोड़ आठ लाख सोनैये का दान देने लगे।

वार्षिक दान की समाप्ति पर, राजा नन्दिवर्द्धन ने, बड़े दुःख के साथ भगवान को दीक्षा लेने की स्वीकृति दी। राजा नन्दि-वर्द्धन तथा इन्द्रादि देवों ने, भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया। भगवान वर्द्धमान, चन्द्रप्रभा शिविका में विराज कर, क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्य में होते हुए ज्ञातखण्ड उद्यान में पधारे। वहाँ,

सब आभूषण त्याग कर, छट्ठ के तप में पञ्चमुष्टि लोंच करके, मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दिन के पिछले पहर में जब चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आया हुआ था—भगवान ने संयम स्वीकार किया। उसी समय भगवान को, मनः पर्यय नामका चौथा ज्ञान उत्पन्न हुआ। राजा नन्दिवर्द्धन आदि, भगवान को वन्दन करके अपने स्थान को आये और भगवान, अन्यत्र विहार कर गये।

विहार करते हुए जब संध्या हुई, तब भगवान जंगल में ही ध्यान धर कर खड़े हो गये। इतने ही में, कुछ ग्वाले वहाँ आ गये। वे भगवान से बोले, कि हम कुछ काम करके फिर आते हैं, तब तक तुम हमारी इन गायों की सम्हाल रखना, ये कहीं चली न जावें। प्रभु महावीर ध्यान में मग्न थे। वे, यह जानते ही न थे, कि कौन क्या कह रहा है! इसके सिवा गृह-संसार-त्यागी भगवान, गायें सम्हालने के प्रपंच में भी क्यों पड़ने लगे थे! ग्वाले, भगवान से गायें सम्हालने का कह कर चले गये, लेकिन जब वापस आये, तब उन्हें गायें वहाँ न मिलीं, तितिर-बितिर होकर कहीं चली गई थीं। वे भगवान से पूछने लगे कि गायें कहाँ हैं? लेकिन भगवान ध्यान में थे, इससे उन्होंने कुछ भी उत्तर न दिया। तब ग्वाले, क्रुद्ध होकर कहने लगे, कि हम गायें इस धूर्त्त को सम्हलवा गये थे, इसीने गायों को कहीं छिपाया है और अब पूछने पर बोलता भी नहीं है! उन

ग्वालों में से एक ग्वाला, हाथ में की रस्सी का कोड़ा बनाकर उसे घुमाता हुआ और भगवान से गायों के लिए पूछता हुआ; भगवान को कोड़ा मारने के लिए तैयार हुआ। इतने ही में; इन्द्र का ध्यान, इस घटना की ओर गया। इन्द्र, तत्क्षण वहाँ उपस्थित हुए और भगवान को नमस्कार करके, ग्वालों की ओर कड़ी दृष्टि से देखते हुए, मन ही-मन कहने लगे, कि—प्रभो, आप पर इसी प्रकार के उपसर्ग आने वाले हैं, अतः आप मुझे अपने साथ रहकर सेवा करने की स्वीकृति दीजिए! मन में की हुई इन्द्र की इस प्रार्थना के उत्तर में, भगवान बोले—हे इन्द्र, तेरी बुद्धि में यह विकार कहाँ से आया! तू, मेरी भक्ति करता है, या आसातना करता है? क्या तू तीर्थङ्कर और वीतराग को सहायता देने की इच्छा रखता है! जो अपने कर्मक्षय करने के लिए निकला है, क्या वह तेरी सहायता की अपेक्षा रखेगा! तू यह तो विचार कर, कि अनन्त बली अरिहन्त की सहायता करने के लिए तयार होना, अरिहन्त की भक्ति है, या उनका अपमान है! तू, मेरा काम मुझे ही करने दे, मेरे लिए किसी प्रकार की चिन्ता मत कर। भगवान का उत्तर सुनकर, इन्द्र को बहुत आश्चर्य हुआ। आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से भगवान की ओर देखते हुए, भगवान को नमस्कार करके इन्द्र, अपने स्थान को गये और जाते समय सिद्धार्थ नाम के व्यन्तर देव को, अदृश्य

रूप से, भगवान की सेवा में रहने की आज्ञा दे गये। उसी समय, घटनास्थल पर एक दम प्रकाश हो गया, जिसे देखकर ग्वाले आश्चर्य करने लगे और भगवान महावीर के लिए कहने लगे, कि यह पुरुष तो अलौकिक है, इसे हमारी गायों से क्या मतलब! हमने इसकी आसानता करके बहुत बड़ा अपराध किया है! अन्त में वे ग्वाले, भगवान के पैरों पड़, अपना अपराध क्षमा करा कर अपने स्थान को गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल कोलाक ग्राम में, बहुलनामक ब्राह्मण के यहाँ भगवान का परमान्न से पारणा हुआ। दान की महिमा दिखाने के लिए देवों ने, पाँच दिव्य प्रकट किये। भगवान वहाँ से भी विहार कर गये, और अप्रतिबंध रूप से विचरने लगे। दीक्षा के समय, भगवान के शरीर पर देवों ने सुगन्धित द्रव्य लगाये थे। उस सुगन्ध से आकर्षित हो भ्रमरों ने, भगवान के शरीर को बहुत कष्ट दिया—यहाँ तक कि शरीर में छिद्र भी कर दिये, लेकिन भगवान, इन सब कष्टों को धैर्यपूर्वक सहते रहे उनका हृदय, किंचित् भी विचलित नहीं हुआ।

प्रथम चातुर्मास में भगवान महावीर, अस्थिक ग्राम में रहे। जिस स्थान पर भगवान चातुर्मास में रहे थे, एक यक्ष, उस स्थान पर किसी मनुष्य को नहीं रहने देता था। भगवान, उस स्थान, पर निर्भय होकर रहे और वहीं, कायोत्सर्ग किया। रात के समय

वह शूलपाणि यक्ष आया। उसने, भगवान महावीर को अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये, लेकिन भगवान अविचल ही बने रहे। जब वह थक गया, तब आश्चर्य में पड़ा और फिर भगवान से क्षमा प्रार्थना करने लगा। उस समय सिद्धार्थ व्यन्तर ने, उस यक्ष को उपदेश दिया, जिससे उसने समकित प्राप्त की।

चातुर्मास की समाप्ति पर, अस्थिकग्राम से विहार करके भगवान, श्वेताम्बिका की ओर पधारे। श्वेताम्बिका की ओर जाते हुए भगवान से, मार्ग में, ग्वालों के बालकों ने प्रार्थना की, कि हे प्रभो, यह मार्ग जाता तो सीधा श्वेताम्बिका को ही है, परन्तु मार्ग में, तापसों के आश्रम के समीप, आज कल एक ऐसा सर्प रहता है, कि जिसकी दृष्टि से ही विष चढ़ता है। अतः आप इस रास्ते को छोड़ कर, अन्य मार्ग से श्वेताम्बिका पधारिये। ग्वालों के बालकों की यह प्रार्थना सुन कर भी भगवान, यह विचार कर उसी मार्ग से पधारे, कि वह सर्प, बोध पाने के योग्य है। चलते-चलते भगवान, उस सर्प की बांबी के समीप पहुँचे और बांबी के समीप ही कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। कुछ ही समय में वह दृष्टि-विषधारी सर्प बांबीसे बाहर निकला। बांबी के समीप खड़े हुए भगवान को देख कर, वह सर्प, बहुत क्रुद्ध हुआ और फन फैला कर, पशु पक्षी मनुष्य तथा वृक्षों को भस्म कर देने वाली विष भरी दृष्टि, भगवान पर बार-बार डालने

लगा। साँप की दृष्टि से निकलने वाली विष-ज्वाला, भगवान के शरीर पर पड़-पड़ कर उसी प्रकार निष्फल हुई, जिस प्रकार समुद्र पर पड़ी हुई बिजली, निष्फल जाती है। अपनी विषदृष्टि को निष्फल देख, साँप का क्रोध और बढ़ गया। वह, एक बार सूर्य की ओर देख कर और इस प्रकार अपने विष को उग्र बना कर, फिर भगवान पर दृष्टि द्वारा विष ज्वाला छोड़ने लगा, परन्तु उसे इस तरह भी सफलता न मिली। तब वह क्रोध करके भगवान के समीप आया और इन्द्र द्वारा पूजनीय भगवान के चरण-कमल को उसने अपने दाँतों से डसा। साँप के डसने से, भगवान को वेदना तो हुई, परन्तु भगवान के शरीर के पुद्गल, विष-पुद्गल से विपरीत थे। इस कारण, भगवान के शरीर में, सर्प के विष का कोई प्रभाव न हुआ। अपितु भगवान के चरण से गो-दुग्ध जैसी उज्ज्वल खून की धारा, वह निकली। सर्प को, वह उज्ज्वल रक्त-धारा, बहुत मीठी लगी। भगवान के चरण से निकलते हुए उज्ज्वल और मीठे रक्त को बार-बार पीकर सर्प विचारने लगा, कि यह अलौकिक पुरुष कौन है! विचारते-विचारते, ज्ञाना वरणीय कर्म क्षय होने से साँप को जातिस्मृति ज्ञान हुआ। भगवान ने, यह समय उपदेश के लिए उपयुक्त देख कर, साँप को उपदेश दिया और साँप से कहा, कि ऐ चण्ड-कौशिक! प्रतिबोध पा! जातिस्मृति-ज्ञान से अपने पूर्वभव को

देख कर और भगवान को पहचान कर, साँप ने, नम्रता-पूर्वक भगवान को वन्दन किया और भगवान से अपना अपराध क्षमा कराया।

जिस क्रोध के कारण साँप की योनि पाई, उस क्रोध पर विजय पाने के लिए और मेरी विषदृष्टि से फिर किसी प्राणी को कष्ट न हो, इसलिए, उस साँप ने, अनशन करके, अपना सारा शरीर बाँबी से बाहर रख कर, अपना फण बिल में डाल दिया और सम-भाव में मग्न हो गया। साँप की अनुकम्पा के लिए, भगवान भी, बाँबी के समीप ही ठहर गये। भगवान को सुरक्षित देख कर, ग्वालों के लड़के भी बाँबी के समीप आये। भगवान को सकुशल जीवित और साँप को बाँबी में फण किये वहीं पड़ा देख कर, ग्वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ। विश्वास करने के लिए वे लड़के वृक्षादि की ओट से उस साँप को पत्थर और ढेले मारने लगे, परन्तु साँप निश्चल ही रहा। तब साँप के समीप आकर वे लड़के, साँप को लकड़ी के हूरे (घोंद) से छेड़ने लगे, लेकिन साँप विचलित न हुआ। साँप की यह दशा देख कर, उन लड़कों ने सब बात और लोगों से कही। अनेक स्त्री-पुरुष वहाँ एकत्रित हो गये और भगवान एवं मरणोन्मुख साँप को वन्दन करने लगे। पश्चात्, ग्वालिनों ने, साँप के शरीर पर, दूध दही और घी छिड़क कर साँप की पूजा की। घी की गन्ध के कारण, साँप

के शरीर में चींटियाँ लग गईं। चींटियों ने, साँप के शरीर को काट काट कर चलनी-सा कर डाला, फिर भी साँप यही विचारता रहा, कि मेरे पापों की अपेक्षा यह कष्ट न कुछ के बराबर है। बल्कि साँप ने यह विचार कर शरीर को हिलाना भी बन्द कर दिया, कि मेरे शरीर हिलाने से, कहीं कोई चींटी दब जावेगी। इस प्रकार वह साँप, क्षमा-पूर्वक सब कष्टों को सहता रहा, और शान्त चित्त बना रहा। अन्त में पन्द्रह दिन तक अनशन करके, अपने शरीर को भगवान की अमीदृष्टि से सिंचन कराता हुआ सर्प, शरीर छोड़ सहस्रार कल्प में महर्द्धिक देव हुआ।

सर्प का भव सुधारकर, और वहाँ के मनुष्य तथा पशु-पक्षियों का कष्ट निवारण करके भगवान ने, चण्डकौशिक सर्प की बांबी के समीप से विहार किया। मार्ग में उत्तरवाचाल ग्राम में नागसेन गृहस्थ के यहाँ भगवान का पारणा हुआ। वहाँ दान की महिमा दिखाने के लिए देवों ने, पाँच दिव्य प्रकट किये।

उत्तरवाचाल नगर से भगवान ने, श्वेताम्बिका के लिए आगे की ओर विहार किया। जब भगवान गंगा नदी के समीप पहुँचे, तब अन्य लोगों के साथ, गंगा नदी पार करने के लिए नाव में बैठे। भगवान महावीर ने, त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस केसरी सिंह, को मारा था, अनेक भव करता हुआ, वह केसरी सिंह सुदंष्ट्र नाम का देव हुआ था। भगवान को देखकर, उसे पूर्व-वैर

याद हो आया। इस कारण उसने भगवान को कष्ट देने को नाव के लिए भय.वह स्थिति उत्पन्न कर दी। उस समय, कम्बल और सम्बल देवों ने आकर, भगवान का यह उपसर्ग निवारण किया और नाव को पार पहुँचा दी। यह करके उन दोनों देवों ने, भगवान को नमस्कार किया, तब नाव में बैठे हुए लोग भी, भगवान को यह कहकर वन्दन करने लगे, कि हे प्रभो, हम आपके साथ होने के कारण ही इस समय डूबने से बचे हैं।

अपने चरणों से अनेक ग्राम, नगर की भूमि को पवित्र बनाते हुए भगवान, राजगृह नगर के नालंदी नामक उपनगर में पधारे। वहाँ भगवान, एक बुनकर की बुनकर-शाला में, आज्ञा लेकर चातुर्मास रहे। वहाँ भगवान ने, मास क्षमण का तप करके कायोत्सर्ग किया। उन्हीं दिनों में, मंखली पुत्र गोशालक, अपने पिता-माता से कलह करके घर से निकल गया था और चित्रपट लेकर भिक्षा मांगता फिरता था। फिरता-फिरता, गोशालक भी राजगृह नगर में आया और उसी बुनकर शाला में-जिसमें भगवान ने मास क्षमण तप-पूर्वक कायोत्सर्ग किया था—ठहरा। मास क्षमण का तप पूर्ण होने पर भगवान, पारणा करने के लिए भिक्षा लेने को विजय सेठ के घर पधारे। विजय सेठ ने, भक्ति-पूर्वक भगवान को भोजन से प्रतिलाभित किया। देवों ने, रत्न-वृष्टि द्वारा, दान की महिमा की। यह समाचार जब

गोशालक ने सुना, तब वह भगवान के लिए विचार करने लगा, कि ये मुनि, कोई सामान्य मुनि नहीं हैं, जिसको दान देने वाले के घर रत्न-वृष्टि होती है, वह अवश्य ही कोई लोकोत्तर पुरुष है। मैं, चित्रपट को छोड़कर, इन मुनि का शिष्य होजाऊँ, यही मेरे लिए अच्छा है। गोशालक, इस प्रकार विचारता था, इतने ही में भगवान पधार गये, और पुनः कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। तब गोशालक, भगवान को नमस्कार करके बोला—भगवन्, मैं अब आपका शिष्य होऊँगा, मेरे लिए आपकी सेवा ही शरण है। गोशालक ने ऐसा कई वार कहा, परन्तु भगवान मौन ही रहे। तब गोशालक, स्वयं ही भगवान का शिष्य बनकर, भगवान के पास रहने लगा।

भगवान ने, दूसरे मास क्षमण का पारणा आनन्द नाम के गृहपति के यहाँ किया और तीसरे मास क्षमण का पारणा, सुनन्द नाम के गृहपति के यहाँ किया। तीसरे मास क्षमण का पारणा करके भगवान, पुनः मौन धारण कर ध्यानस्थ रहे। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन, गोशालक ने भगवान के लिए विचार किया, कि मैं इनको महाज्ञानी सुनता हूँ, अतः आज परीक्षा करूँ। इस प्रकार विचार कर, गोशालक, भगवान से पूछने लगा, कि हे—प्रभो, आज पूर्णिमा-महोत्सव के कारण घर-घर में उत्तम भोजन बनता है, अतः आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा ?

गोशालक के यह पूछने पर भी, भगवान तो मौन ही रहे, परन्तु सिद्धार्थ व्यंतर ने, भगवान के शरीर में प्रविष्ट होकर गोशालक से कहा, कि—हे भद्र, आज तुझे कूर और बिगड़े हुए कोदों का भोजन मिलेगा, तथा एक खोटा रुपया दक्षिणा में भी मिलेगा। यह सुनकर गोशालक उत्तम भोजन के लिए दिन भर भ्रमण करता रहा, परन्तु उसे कहीं से कुछ भी न मिला। संध्या समय, एक सेवक गोशालक को अपने घर ले गया। वहाँ उसने गोशालक के आगे वही भोजन रखा, जो सिद्धार्थ व्यंतर ने कहा था। गोशालक, दिन भर का भूखा था, अतः उसने विवश होकर वही भोजन किया। भोजन कराने के पश्चात्, सेवक ने, गोशालक को एक रुपया भी दक्षिणा में दिया, परन्तु परीक्षा कराने पर, वह रुपया खोटा निकला। इस घटना पर से, गोशालक ने यह निश्चय किया, कि जो भावी होता है, वही होता है। इस प्रकार उसने अपने में नियतवाद को स्थान दिया।

चातुर्मास समाप्त होने के कारण भगवान, नालन्दी से विहार कर गये। गोशालक जब शाम को वुन कर शाला में आया, तो उसने वहाँ भगवान को नहीं देखा। तब, लोगों से भगवान के विषय में पूछ-ताछ करके गोशालक, भगवान के पास जाने को चला। कोलाक नाम के सन्निवेश में उसने लोगों को यह कहते सुना, कि बहुल ब्राह्मण को धन्य है, जिसने मुनि को दान दिया

और दान प्रभाव से उसके यहाँ, देवों ने रत्नवृष्टि की। लोगों के मुँह से यह सुन कर गोशालक समझ गया, कि यह बात मेरे गुरू के लिए ही है। भगवान को ढूँढता हुआ गोशालक उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ भगवान, कायोत्सर्ग किये खड़े थे। वहाँ, भगवान को वन्दन करके गोशालक प्रार्थना करने लगा, कि—हे प्रभो, मैं, पहले तो आपका शिष्य होने के योग्य न था, परन्तु अब वस्त्रादिक त्याग कर, निःसंग हूँ, अतः आप मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करिये। यद्यपि आप राग-रहित हैं, परन्तु मेरा मन, आपकी सेवा चाहता है। 'महापुरुष, किसी की उचित आशा भंग नहीं करते, इस कारण भगवान ने, गोशालक की यह प्रार्थना अस्वीकार नहीं की।

गोशालक, भगवान के साथ ही साथ विचरने लगा। तीसरा चातुर्मास, चम्पा नगरी में बिताने के लिए भगवान, चम्पा नगरी पधारे। वहाँ भगवान ने, दो दो मास की तपस्या करके चातुर्मास बिताया। तीसरे चातुर्मास में, भगवान के साथ गोशालक भी था। चातुर्मास के पश्चात् भगवान, पुनःकोल्लाक ग्राम में पधारे वहाँ, भगवान तो कायोत्सर्ग करके रहे, परन्तु गोशालक अपनी उच्छृंखलता के कारण, कोल्लाक के राजकुमार द्वारा दण्डित हुआ। चौथे चौमासे में भगवान, पृष्ठ चम्पा पधार गये, और वहाँ चौमासी-तप-पूर्वक कायोत्सर्ग करके रहे। चौमासे के अन्त में,

प्रतिमा पाल कर भगवान ने अन्यत्र विहार किया।

जनपद में विचरते हुए भगवान ने विचार किया, कि मुझे बहुत कर्मों की निर्जरा करनी है, लेकिन इस आर्यदेश में, कोई न कोई परिचित मिल ही जाता है; इस कारण कर्मों की निर्जरा का ठीक योग नहीं मिलता। अतः आर्यदेश को छोड़ कर, अपरिचित अनार्यदेश में जाना ठीक होगा। यह विचार कर भगवान, लाटदेश की ओर पधारे। लाटदेश के स्वभावतः क्रूर लोग, भगवान को मुण्डा-मुण्डा कह कर मारने लगे। कोई तो भगवान को चोर कह कर बाँधता, कोई, अन्य राजा का गुप्तचर समझ कर, भगवान को पकड़ कर कष्ट देता और कोई कौतूहल के लिए भगवान पर शिकारी कुत्ते छोड़ता। इस प्रकार, वहाँ के अनार्य लोगों ने, ताड़ना तर्जनादि द्वारा भगवान को अनेक उपसर्ग दिये। लोग, भगवान से कुछ पूछते, परन्तु मौनधारी भगवान कुछ उत्तर न देते। तब वहाँ के लोग, क्रोध करके और भगवान को चोर डाकू धूर्त ठग कह कर, अनेक प्रकार की पीड़ा देते, परन्तु भगवान, प्रसन्नता-पूर्वक सब कष्ट सहन करते। जिस प्रकार ग्राहकों के आधिक्य से व्यापारी खेद नहीं पाता, अपितु प्रसन्न होता है, उसी प्रकार, अनार्य लोगों द्वारा दिये गये कष्टों से भगवान खेद न पाते, किन्तु कर्मों की अधिक निर्जरा होती है, यह जान कर भगवान, अधिकाधिक आनन्द पाते।

अनार्यदेश में बहुत कर्म खपा कर भगवान पुनः आर्यदेश की ओर पधारे और अनेक ग्राम नगर में विचरते हुए पाँचवाँ चौमासा, चौमासी तपयुक्त भद्दिलपुर में विताया। भद्दिलपुर से भगवान ने, विशाला की ओर विहार किया। उस समय गोशालक ने भगवान से कहा—प्रभो, अब मैं आपके साथ नहीं रहना चाहता। क्योंकि लोग जब मुझे मारते हैं, तब आप तटस्थ की तरह देखा करते है और जब आप को उपसर्ग होते हैं, तब आपके साथ रहने के कारण मुझे भी उपसर्ग सहने पड़ते हैं। भगवान ने तो मौन धारण कर रखा था इसलिए वे तो कुछ न बोले, लेकिन सिद्धार्थ व्यंतर ने, गोशालक की बात के उत्तर में गोशालक से कहा, कि तू, तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

भगवान, विशाला पधारे। विशाला में भगवान एक लोहार की शाला में कायोत्सर्ग करके रहे। वहाँ, उस लोहार ने भगवान को मारने के लिए लोहा कूटने का घन उठाया, लेकिन दैवयोग से वह घन, उसी लोहार पर गिरा, जिससे लोहार मर गया। भगवान, वहाँ से विहार करके आगे बढ़े।

भगवान ने, छट्ठा चौमासा, भद्रिकापुरी में विताया। भद्रिकापुरी में भी भगवान, चौमासी तप पूर्वक कायोत्सर्ग करके रहे थे। विशाला के मार्ग में गोशालक ने भगवान का साथ छोड़ दिया था, लेकिन भद्रिकापुरी में वह फिर भगवान के साथ हो गया।

भद्रिकापुरी से विहार करके भगवान; मगधदेश में विचरने लगे। भगवान ने साँतवां चातुर्मास, आलंभिका में, चातुर्मासिक तप करके विताया। आलंभिका से विहार करके अनेक ग्राम नगर को पावन करते हुए भगवान ने, आठवाँ चातुर्मास, चातुर्मासिक तप पूर्वक राजगृह नगर में विताया।

भगवान ने विचार किया, कि मुझे बहुत अधिक कर्म क्षय करने हैं, अतः इसके लिए मुझे म्लेच्छ देशों में जाना उचित है। इस प्रकार विचार करके चातुर्मास की समाप्ति पर भगवान ने, वज्रभूमि लाट देश की ओर विहार किया। वहाँ के निवासी म्लेच्छ लोग, भगवान को विविध प्रकार से कष्ट देने लगे लेकिन भगवान—कर्म खपते हैं, इस विचार से—शान्त और आनन्दित ही बने रहे। उस देश में, स्थान न मिलने के कारण भगवान को शीत, तप और वर्षा भी सहन करनी पड़ी, परन्तु धैर्य पूर्वक समस्त उपसर्गों को सहन करते हुए भगवान ने, नववाँ चातुर्मास, उसी अनार्य देश में व्यतीत किया।

अनार्य देश में चातुर्मास विताकर भगवान, सिद्धार्थपुर की ओर पधारे। गोशालक भी साथ ही था। मार्ग में, वैशिकायन नाम का तापस, सूर्य के सन्मुख मुख करके सूर्य की आतापना ले रहा था। उसे तप के प्रभाव से तेजोलेश्या लब्धि प्राप्त थी। सूर्य की गर्मी के कारण, वैशिकायन के बढ़े हुए वालों से, जुएँ

नीचे गिरती थीं, जिन्हें उठा-उठा कर वैशिकायन अपने बालों में फिर रखता जाता था। गोशालक सहित भगवान महावीर, इसी मार्ग से निकले। गोशालक, वैशिकायन के पास जाकर कहने लगा—रे तापस, तू कौन-से तत्त्व जानता है ? तू इन जुओं का शय्यान्तरी है। तू पुरुष है या स्त्री है ? आदि। गोशालक ने इस प्रकार की अनेक बातें कहीं, लेकिन समतावान वैशिकायन तापस कुछ नहीं बोला। तब गोशालक तापस को पुनः-पुनः छेड़ने लगा। अन्त में तापस, क्रुद्ध हो उठा। उसने गोशालक पर, तेजोलेश्या लब्धि का प्रयोग किया। विकराल ज्वाला की तरह तेज्योलेश्या से भय पाकर गोशालक, भागकर भगवान के पास आया। तेजोलेश्या से गोशालक को भयभीत देखकर, करुणा सागर भगवान ने, गोशालक की रक्षा के लिए उस तेजोलेश्या को शीतल दृष्टि से देखा। भगवान की शीतल दृष्टि से वह तेजोलेश्या उसी प्रकार शान्त हो गई, जिस प्रकार समुद्र में गिरी हुई बिजली शान्त हो जाती है। भगवान की शक्ति देख कर, वैशिकायन विस्मित हुआ और भगवान के पास आकर नम्रता से बोला—प्रभो, मैं आपका ऐसा प्रभाव नहीं जानता था, आप मेरा अपराध क्षमा करें। इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करके वह तापस, अपने स्थान को गया।

वैशिकायन तापस के चले जाने के पश्चात् गोशालक ने

भगवान से पूछा, कि—प्रभो, तेजो लेश्या लब्धि कैसे प्राप्त होती है ? भगवान ने उत्तर दिया, कि—नियमधारी होकर छः मास तक बेले-बेले का तप करके पारणे के समय केवल मुट्ठी भर उर्द तथा अंजलि भर जल से पारणा करने से, छः मास के अन्त में तेजो-लेश्या लब्धि प्राप्त होती है। तेजोलेश्या लब्धि प्राप्त करने का उपाय जान कर, गोशालक, भगवान का साथ छोड़ कर, तेजो-लेश्या लब्धि की प्राप्ति का उपाय करने के लिए, श्रावस्ती की ओर चला। श्रावस्ती पहुँच कर वह, एक कुम्हार की शाला में ठहर, तेजोलेश्या लब्धि की प्राप्ति के लिए तप करने लगा। छः मास समाप्त होने पर, गोशालक को तेजोलेश्या लब्धि प्राप्त हुई, गोशालक ने परीक्षा के लिए, क्रोध करके एक दासी पर तेजो-लेश्या का प्रयोग किया, जिससे वह दासी, जल कर भस्म हो हो गई। तेजोलेश्या लब्धि मुझे प्राप्त है, यह जान कर गोशालक प्रसन्नतापूर्वक अन्यत्र विचरने लगा। विचरते हुए गोशालक को, भगवान पार्श्वनाथ के छः शिष्य मिले, जो अष्टांग महानिमित्त के तो पण्डित थे, परन्तु चारित्र से रहित थे। भगवान पार्श्व-नाथ के शिष्यों ने, मित्र-भाव से गोशालक को वह निमित्तज्ञान बता दिया। उस निमित्तज्ञान और तेजोलेश्या लब्धि पर गर्व करता हुआ, गोशालक, अपने आपको जिनेश्वर बताता हुआ विचरने लगा।

जनपद में विचरते हुए भगवान महावीर श्रावस्ती पधारे। भगवान ने, दसवाँ चातुर्मास श्रावस्ती में ही किया। श्रावस्ती में भी भगवान, चातुर्मासिक तप करके रहे थे। चातुर्मास के अन्त में, पारणा करके भगवान ने श्रावस्ती से विहार कर दिया।

विचरते हुए भगवान महावीरने, भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र तप करने के लिए, सोलह दिन तक एक स्थान पर कायोत्सर्ग-पूर्वक, किसी एक पदार्थ पर दृष्टि लगा कर रहे। पश्चात् उस स्थान से विहार करके पेढाला नगरी के समीपस्थ उद्यान में अष्टम तप पूर्वक, एक शिला पर कायोत्सर्ग करके भगवान एक ही पुद्गल पर दृष्टि जमा, प्रतिमाधारी हुए।

सौधर्म सभा में बैठे हुए शक्रेन्द्र ने, अवधिज्ञान से, भगवान को ध्यानमग्न देखा। वहीं से भगवान को वन्दन करके शक्रेन्द्र, सभा में भगवान की प्रशंसा करते हुए कहने लगे, कि इन ध्यानस्थ परमात्मा को विचलित करने में, कोई भी देव दानव या मनुष्य समर्थ नहीं है। इन्द्र द्वारा की गई भगवान की प्रशंसा सुन कर, महामिथ्यात्वी और रौद्रपरिणामी संगम नाम का सामानिक देव, इन्द्र से कहने लगा—स्वामी, आप बार-बार मनुष्यों की प्रशंसा करके हम देवों का अपमान करते हैं, कोई भी मनुष्य, हम देवों से अधिक सामर्थ्य क्या रखता होगा! आप जिनकी प्रशंसा करते हैं, उनको मैं अभी विचलित करके आपको बताता

हैं, कि देव, मनुष्यों की अपेक्षा कैसे शक्ति-सम्पन्न होते हैं। संगम देव की बात, इन्द्र को अनुचित तो मालूम हुई, लेकिन इन्द्र यह विचार कर चुप रहे, कि मेरे कुछ बोलने से इस देव को यह कहने की जगह मिल जावेगी, कि इन्द्र की सहायता से ही अरिहन्त तप करते हैं।

दुष्ट प्रकृतिवाला संगम देव, गर्व-पूर्वक भगवान के समीप आया और भगवान को ध्यान से विचलित करने के लिए, बड़े-बड़े उपसर्ग देने लगा। उसने रजवृष्टि की। पश्चात् वज्रमुखी चींटियाँ, डाँस, प्रचण्ड चोंच वाली धीमेल, बड़े-बड़े डंक वाले बिच्छू न्योले, साँप, मूसे, गज, व्याघ्र, पिशाच, सिद्धार्थ राजा, त्रिशला रानी, दावानल, चाण्डालादिक क्रूर स्वभाववाले मनुष्य, तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी, प्रचण्ड वायु, बंटोलिया, चक्र, आदि उत्पन्न किये। इसी प्रकार, कामदेव के अस्त्ररूप उपवन सहित स्त्रियाँ भी वैक्रिय की और एक ही रात में सब मिला कर बीस उपसर्ग भगवान को दिये। संगम द्वारा दिये हुए उपसर्गों से भगवान को पीड़ा तो अवश्य हुई, परन्तु भगवान, ध्यान से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। जब वह देवता अपने कृत्यों में असफल रहा और थक गया, तब बहुत लज्जित हुआ। सूर्योदय हो जाने से, भगवान, प्रतिमा पालकर विहार कर गये, तब भी वह दुष्टबुद्धिवाला देव, 'मैं इन्द्र के सामने किस मुँह से जाऊँगा,' इस विचार से,

छः महीने तक भगवान के साथ-साथ रहा। वह देव, जहाँ भगवान भिक्षा के लिए जाते, वहाँ पदार्थों को अनेपणिक कर देता और इसी प्रकार भगवान को और भी कष्ट देता। अनेक उपाय करने पर भी जब वह देव, अपने उद्देश्य में सफल न हुआ, तब निराश हो, भगवान को नमस्कार करके भगवान से प्रार्थना करने लगा—प्रभो, इन्द्र द्वारा आपकी प्रशंसा सुनकर, आपको अप्रशंसनीय बनाने के लिए, मैंने, गर्वपूर्वक अनेक कष्ट दिये, लेकिन आप उन कष्ट में भी उसी प्रकार धीर बने रहे, जिस प्रकार तपाने पर भी सोना अपनी कान्ति नहीं त्यागता। अब आप मेरे अपराध क्षमा करिये और आहार लाकर पारणा करिये। इस प्रकार भगवान से क्षमा प्रार्थना करके वह संगम देव अपने स्थान को गया।

इन्द्रादि देव, गीत नृत्य बन्द करके, संगम की चेष्टा का परिणाम देख रहे थे। छः मास पश्चात् जब संगम देव असफल होकर, मलिन मुख और लज्जित वदन से सुधर्मसभा में आया, तब इन्द्र ने उसकी ओर से मुँह फेर लिया और उन्होंने उच्चस्वर में सब देवताओं से कहा, कि—यह संगम, महापापी है; इसका मुख देखने से भी पाप लगता है; यदि यह यहाँ रहेगा, तो इसके पापपुद्‌गल अपने को भी चिपटना संभव है, अतः इसे देवलोक से बाहर निकाल दिया जावे। ऐसा कह कर इन्द्र ने संगम देव

पर वामचरण-प्रहार किया। इन्द्र की घोषणा सुन कर, आत्म-रक्षक देव, संगम को धक्के मारने लगे। तब संगम, अपमानित होकर, मेरु पर्वत की चूलिका पर रहने लगा। इन्द्र ने, संगम की देवियों के सिवा संगम के परिवार को भी- संगम का साथ देने से रोक दिया।

इधर भगवान ने, गोकुल ग्राम में, छःमासी तप का पारणा किया। देवताओं ने, पाँच दिव्य प्रकट करके दान की महिमा की। अनेक इन्द्र और देव, भगवान की सेवा में उपस्थित होकर भगवान की दृढ़ता की प्रशंसा करने लगे और फिर भगवान को वन्दन करके अपने-अपने स्थान को गये।

गोकुल ग्राम से विहार करके भगवान, विशाला नगरी पधारे। भगवान ने ग्यारहवाँ चातुर्मास, विशाला नगरी में ही; बलदेव के मन्दिर में चौमासी तप-पूर्वक प्रतिमा धारण करके बिताया। विशाला में, एक जिनदास नाम का श्रेष्ठि—जो श्रावक था—रहता था। जिनदास वैभवहीन होगया था, इसलिए लोग उसे जीर्ण सेठ कहते थे। जीर्ण सेठ, प्रतिदिन भगवान की सेवा करता हुआ, पारणार्थ दान देने की भावना करता था, लेकिन जब भगवान भिक्षा का समय हो जाने पर भी जीर्ण के यहाँ आहार लेने नहीं पधारते, तब जीर्ण सेठ यह विचार करता, कि भगवान का आज भी तप होगा, भगवान कल पधारेंगे। इस प्रकार

आशा-ही-आशा में चार मास बीत गये। चातुर्मास की समाप्ति पर जीर्ण सेठ ने, स्वयं भी इस आशा में पारणा नहीं किया कि आज तो भगवान पधारेंगे ही। भगवान को दान देने की अभिलाषा से जीर्ण सेठ, भगवान के पधारने की प्रतीक्षा करने लगा। भिक्षा के समय पर भगवान ने, पूरण श्रेष्टि के यहाँ पधार कर पारणा किया। देवों ने, पाँच दिव्य प्रकट करके दान की महिमा की। देवदुंदुभी की आवाज़ सुनकर, जीर्ण सेठ, भगवान के न पधारने से, अपनेआप को मन्दभागी मानने लगा। भगवान को दान देने के लिए जीर्ण सेठ के परिणाम इतने उत्कृष्ट थे, कि यदि जीर्ण सेठ को दुंदुभीनाद एक घड़ी भर और न सुनाई देता, और उसके उत्कृष्ट परिणामों का प्रवाह न टूट जाता, तो केवलज्ञान प्राप्त हो जाता।

पूरण सेठ के यहाँ पारणा करके भगवान ने विशाला से विहार किया। विचरते हुए भगवान कौशाम्बी पधारे। कौशाम्बी में तप करके भगवान ने एक महा-कठिन अभिग्रह धारण किया और निश्चय किया, कि यदि इस अभिग्रह की पूर्त्ति के साथ मुझे पारणा के दिन आहार मिलेगा, तब तो मैं पारणा करूँगा, अन्यथा छः मास तक अन्न न लूँगा। भगवान ने इस प्रकार का अभिग्रह किया, कि राजा की कन्या हो, दासीपने को प्राप्त हुई हो, अविवाहिता हो, तीन दिन की भूखी हो, सिर मुण्डा

हो, कछोटा धारण किये हो; एक पांव चौखट (डेहली) के बाहर हो और एक पांव चौखट के भीतर हो, हाथों में हथकड़ी हों, पांवों में बेड़ी हो, उर्द के बाकले हों, जिन्हें वह सूप के कोने में लिये हो, दान की भावना कर रही हो और एक आँख हर्ष-पूर्ण तथा दूसरी आँख अश्रुपूर्ण हो। ऐसी कन्या से भिक्षा मिलेगी, तभी मैं—इस तप के अन्त में—पारणा करूँगा।

इस प्रकार का कठिन अभिग्रह लेकर भगवान विचरने लगे। भगवान को विचरते हुए, पाँच दिन कम छः मास हो गये, परन्तु अभिग्रह के अनुसार योग न मिला। कौशाम्बी के राजा सन्तानिक और उनकी रानी मृगावती ने, भगवान का अभिग्रह जानने और भगवान को पारणा कराने की बहुत चेष्टा की, परन्तु वे असफल ही रहे। भगवान जहाँ जाते, उस घर के लोग पहले तो हर्षित होते, लेकिन जब भगवान—अभिग्रह का योग न मिलने से—बिना आहार लिये वापस जाते, तब लोगों में निराशा और चिन्ता होती।

दोपहर का समय है। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से भूमि को तपा रहा है। लोग, गर्मी से बचने के लिए अपने-अपने घरों में आनन्द कर रहे हैं। ऐसे समय में धनावह सेठ ने, अपने घर के तहखाने में बन्द एक विपद्ग्रस्त राज्यकन्या को, तहखाने से बाहर निकाला। वह कन्या अत्यन्त रूपवती थी, परन्तु उसका

सिर मुँडा हुआ था, हाथों में हथकड़ी और पांवों में वेड़ी पड़ी हुई थी, काछ लगाये थी, तथा तीन दिन की भूखी, भूमिगृह में बन्द थी। उस राजकन्या को बाहर निकाल कर धनावह सेठ, उससे इस दशा में पहुँचने का कारण पूछने लगा। राजकन्या ने, धनावह सेठ को उत्तर दिया, कि—पिताजी, आप मेरा समाचार फिर पूछना, पहले मुझे कुछ खाने को दीजिये, मैं बहुत भूखी हूँ। धनावह सेठ ने अपने घर में इधर-उधर देखा, तो सब दूर ताले लगे हुए थे। केवल घुड़साल में, घोड़ों के लिए उबाले हुए उर्द रखे थे। वहाँ, कोई वर्तन भी न था, केवल एक सूप दिखाई दिया। धनावह सेठ ने उसी सूप में, थोड़े से उर्द रखकर राजकन्या को दिये और आप, भोजन-सामग्री लाने के लिए बाजार में चला गया। उर्द के बाकले रखे हुए सूप को लेकर राजकन्या, किसी अतिथि की प्रतीक्षा करती हुई, घर के द्वार में बैठी। यह राजकन्या वही है, जो आगे जाकर भगवान महावीर की प्रधान—शिष्या के रूप में महासती चन्दनवाला के नाम से प्रख्यात हुई।

चन्दनवाला, अतिथि की प्रतीक्षा करती हुई द्वार में बैठी है, इतने ही में, भगवान महावीर, वहाँ पधारे। भगवान ने देखा, कि अभिग्रह की और सब बातें तो पूरी हैं, लेकिन एक आँख अश्रुपूर्ण नहीं है। इस कारण भगवान, धनावह सेठ के द्वार

पर से वापस लौट चले। भगवान को लौटते देख कर, सती के दुःख का पार न रहा। उसकी आँख से, अश्रु-धारा निकल पड़ी। भगवान ने फिर कर देखा, तो उन्हें, अभिग्रह की तेरहों शर्तें पूरी दिखाई दीं। उसी समय धनावह सेठ के द्वार पर पधार कर भगवान ने, कर-पात्र में चन्दनबाला का उड़दबाकले का दान ग्रहण किया। भगवान को दान देते ही, देवताओं ने, चन्दन-बाला के हाथ पाँव की हथकड़ी-बेड़ी को स्वर्णरत्न के आभूषणों में परिणत कर दिया और रत्नवृष्टि द्वारा दान की महिमा की।

कौशाम्बी से विहार करके भगवान, चम्पानगरी पधारे। भगवान ने, बारहवाँ चातुर्मास, चम्पा नगरी में—स्वातिदत्त ब्राह्मण की अग्निहोत्र शाला में रह कर—बिताया। चातुर्मास की समाप्ति पर भगवान ने, चम्पानगरी से विहार कर दिया और जनपद में विचरने लगे।

भगवान, विचरते हुए, एक जगह कायोत्सर्ग करके रहे। भगवान ने, त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस शैया-रक्षक के कानों में तपाया हुआ शीशा डलवाया था, उस शैया-रक्षक का जीव, ग्वाला हुआ था। भगवान को देखकर ग्वाले ने—पूर्वभव का वैर होने के कारण—भगवान के कानों में लकड़ी की खूँटियाँ ठोक दीं, और किसी को दिखाई न पड़े, इसलिए उसने खूँटियों का बाहरी भाग काट कर बराबर कर दिया। भगवान ने, इस

वेदना को धैर्य-पूर्वक सह लिया, परन्तु वे, ध्यान से विचलित नहीं हुए। वहाँ से विहार करके भगवान, अपापापुरी पधारे। अपापापुरी में भगवान, भिक्षार्थ, सिद्धार्थ नाम के वणिक के घर गये। सिद्धार्थ के यहाँ, एक वैद्य बैठा हुआ था। भगवान का दुर्बल मुख देख कर, वैद्य समझ गया कि ये मुनि शल्य-पीड़ित हैं। उसने, सिद्धार्थ से कहा। अन्त में, सिद्धार्थ की प्रेरणा से वैद्य ने, भगवान के कानों की कीलों को युक्ति-पूर्वक निकाल डाला। कानों की कीलें निकालते समय, भगवान को घोर वेदना हुई और भगवान के मुख से, सहसा चीख निकल पड़ी। कीलें निकाल कर वैद्य ने, संरोहिणी औषध द्वारा भगवान के कानों में के घाव बन्द किये।

इस प्रकार के उपसर्गों की शृङ्खला को सम-भाव से सहते रहने के कारण, भगवान के घातिक कर्म प्रायः नष्ट हो चले थे। उपसर्ग सहने के साथ ही भगवान ने, बारह वर्ष, छः मास पन्द्रह दिन घोर तप भी किया। उन्होंने नित्य या उपवास के पारणे में कभी भोजन नहीं किया। भगवान ने सब मिलाकर तीन सौ उन्पचास पारणे किये थे (तीन सौ उन्पचास दिन भोजन किया था) शेष दिन तपस्या में ही विताये थे। तपस्या में, बेले से कम की तपस्या कभी नहीं की, हाँ, अधिक में छः मास तक का तप अवश्य किया था। भगवान ने जितना भी तप

किया, सब चौविहार किया। भगवान, कभी सोये भी नहीं, उनका लगभग समस्त समय, विहार या कायोत्सर्ग में ही व्यतीत हुआ।

उपसर्गों को सहते और तप करते हुए भगवान, ऋजुबालिका नदी के तट पर स्थित, जृम्भक ग्राम में पधारे। वहाँ, छट्ठ का तप करके भगवान, शाम गृहस्थ के खेत में उत्कटिक आसन से सूर्य की आतापना लेने लगे। उस समय भगवान के घातिक कर्म क्षय हो जाने से, वैशाख शुक्ला १० को दिन के पिछले पहर में, हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान वर्द्धमान को सम्पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होते ही, क्षण भर के लिए त्रिलोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी शान्ति मिली।

आसनकम्प से भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ जान, देव तथा इन्द्र, अपने-अपने परिवार सहित, भगवान को वन्दन करने के लिए आये। समवशरण की रचना हुई, परन्तु सायंकाल का समय था, इसलिए बारह प्रकार की परिषद् के बदले आठ ही प्रकार की परिषद् उपस्थित हुई। भगवान ने, धर्मोपदेश दिया, फिर भी कोई त्याग प्रत्याख्यान नहीं हुआ। क्योंकि, परिषद् में, चार जाति के देव और देवियाँ ही उपस्थित थीं और देव के चारित्रवरणीय कर्म का क्षयोपशम

नहीं होता, क़िन्तु उदय में ही रहता है। इस कारण भगवान का उपदेश होने पर भी कोई त्याग-प्रत्यख्यान नहीं हुआ। यह आश्चर्य की घटना भी, इस अवसर्पिणी काल के प्रभाव से ही घटी। क्योंकि, केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् तीर्थङ्करों द्वारा दिया गया प्रथम उपदेश, सफल ही होता है, निष्फल नहीं होता; लेकिन भगवान महावीर द्वारा दी गई यह देशणा, फल-शून्य रही।

जृम्भक ग्राम से भगवान ने, मध्य-अपापा नगरी की ओर विहार किया। वहाँ, एक बड़ा भारी यज्ञ हो रहा था, जिसके लिए धुरन्धर विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। भगवान का समवशरण, अपापा नगरी के महासेन वन में हुआ। भगवान के समवशरण में, इन्द्रों और देव-देवियों का आगमन विशेष रूप से होता था।

अपापा नगरी में, सोमल ब्राह्मण ने यज्ञ करने के लिए, इन्द्रभूति आदि ग्यारह धुरन्धर विद्वानों और हजारों ब्राह्मणों को बुलाया था। वे सब यज्ञ कर रहे थे, इतने ही में, भगवान के समवशरण में जाते हुए देव उधर से निकले। देवों को देख कर, इन्द्रभूति उपाध्याय, सब से कहने लगे, कि—देखो, यज्ञ के लिए मन्त्र से बुलाये हुए देवता, प्रत्यक्ष यहाँ आ रहे हैं! इन्द्रभूति की बात सुनकर सब लोग, देवों की तरफ देखने लगे, लेकिन देव, यज्ञवेदी पर न आकर, यज्ञ-स्थल से आगे निकल

गये। तब इन्द्रभूति गर्व-पूर्वक कहने लगे, कि—मनुष्य तो भूलते ही हैं, परन्तु देव भी भूलते हैं! इतने ही में किसी ने कहा, कि महासेन वन में, सर्वज्ञ भगवान महावीर पधारे हैं और ये देवगण, उन्हीं को वन्दन करने जा रहे हैं। यह सुनकर इन्द्र-भूति कहने लगे—क्या कोई और भी सर्वज्ञ हैं! मैं अभी जाकर सर्वज्ञ कहानेवाले महावीर का गर्व दूर करता हूँ।

अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर इन्द्रभूति, भगवान महावीर के समवशरण में आये। भगवान की शान्त-मुद्रा देख कर, इन्द्र भूति के विचार कुछ और ही हो गये। इतने ही में, भगवान के मुख से 'हे इन्द्रभूति गौतम, तुम आये?' यह सुन कर इन्द्रभूति आश्चर्य में पड़ गये, कि ये मेरा नाम कैसे जानते हैं! फिर यह विचार कर उन्होंने अपना आश्चर्य मिटाया, कि मेरा नाम प्रसिद्ध है, इसलिए ये जानते हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरा नाम बता देने के कारण ही मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मान सकता, सर्वज्ञ तो तभी मान सकता हूँ, जब ये मेरे हृदय के संशय को जान कर उसे मिटावें। इन्द्रभूति इस प्रकार का विचार कर ही चुके थे, कि भगवान ने कहा—हे इन्द्रभूति, तुम्हारे हृदय में जीव विषयक शंका है, कि जीव है या नहीं? परन्तु वास्तव में जीव है, और इन-इन प्रमाणों से जीव का अस्तित्व सिद्ध है। अपने हृदय का संशय और उसका समाधान सुनकर,

इन्द्रभूति, भगवान को नमस्कार करके कहने लगे, कि—हे प्रभो, मैंने अज्ञान वश गर्व किया था, परन्तु आपने मेरा अज्ञान मिटा दिया, जिससे मेरा गर्व भी दूर हो गया। अब आप कृपा करके मुझे अपना शिष्य बनाइये। इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करके अपने पाँच सौ शिष्यों सहित इन्द्रभूति गौतम, भगवान के समीप संयम में, प्रवर्जित हो गये।

शिष्यों सहित इन्द्रभूति के संयम में प्रवर्जित होने का समाचार सुन कर, अग्निभूति विचारने लगे, कि मेरे भ्राता इन्द्रभूति, मायावी द्वारा छले गये हैं; अतः मैं जाकर उस मायावी को जीतूँगा और अपने भाई को लिवा लाऊँगा। इस प्रकार विचार कर अपने पाँच सौ शिष्यों सहित अग्निभूति भी भगवान के पास आये, लेकिन अपने हृदय के कर्म विषयक संशय का समाधान, भगवान से सुन कर, अपने शिष्यों सहित अग्निभूति भी संयम में प्रर्वाजित हो गये। इन्द्रभूति और अग्निभूति को ही तरह—यज्ञ कराने के लिए आये हुए ग्यारह विद्वानों में से शेष—नौ विद्वान भी अपने-अपने शिष्यों सहित भगवान के पास संयम में प्रवजित हो गये। भगवान ने, इन ग्यारह विद्वान शिष्यों को त्रिपदी का उपदेश दिया, जिससे उन्होंने द्वादशांगी की रचना की। भगवान ने उन ग्यारहों को गणधर पद पर नियुक्त किया।

जिनके हाथ से उर्द के बाकले लेकर भगवान ने पारणा किया

था, उस सती चन्दनबाला ने यह प्रण किया था, कि भगवान महावीर को केवलज्ञान होते ही, मैं, भगवान महावीर के पास दीक्षा लूँगी। देवों ने, चन्दनबाला को भगवान की सेवा में उपस्थित किया वहाँ उपस्थित अन्य स्त्रियों सहित चन्दनबाला ने भगवान का उपदेश सुना, जिससे अन्य स्त्रियों को भी संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने, चन्दनबाला के नेत्रीत्व में भगवान के पास से संयम स्वीकार किया।

भगवान जनपद में विचरने लगे। एक समय भगवान, विचरते हुए ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पधारे। वहाँ की परिषद्, भगवान को वन्दन करने के लिए आई, जिसमें ऋषभदत्त ब्राह्मण और उसकी पत्नी देवानन्दा भी थी। सब लोग, भगवान को वन्दना करके बैठ गये। उस समय, देवानन्दा को आप ही आप ऐसा हर्ष हुआ, कि रोमांच हो आया और उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। देवानन्दा की प्रसन्नता और उसके स्तनों से निकलती हुई दूध की धारा देख कर, श्री इन्द्रभूति गणधर ने, भगवान से इसका कारण पूछा। भगवान ने उत्तर में फर्माया—हे इन्द्रभूति गौतम, यह देवानन्दा, मेरी माता है। दसवें स्वर्ग का आयुष्य पूर्ण करके मैं इसी के गर्भ आया था। मैं, बयासी रात तक देवानन्दा के गर्भ में रहा। पश्चात्, इन्द्र की आज्ञा से हरिणगवेषी देव ने, मुझे त्रिशला देवी के गर्भ में पहुँचाया।

भगवान के मुख से यह वृत्तान्त सुन कर, ऋषभदत्त और देवानन्दा को बड़ा ही आश्चर्य और हर्ष हुआ। वे अपने मन में कहने लगे, कि पूर्व-पुण्य की न्यूनता से हम, इस विभूति को अपने यहाँ न रख सके। अन्त में संसार की अनित्यता को समझ. ऋषभदत्त और देवानन्दा संयम में प्रवर्जित हो गये और कर्मक्षय करके दोनो ने सिद्ध पद प्राप्त किया।

गौशालक, भगवान के पास से तभी से पृथक् हो गया था, जब भगवान छद्मस्थ थे। तेजोलेश्या की लब्धि और अष्टांग निमित्त के ज्ञान से गर्वित गौशालक, अपनेआप को सर्वज्ञ कहता और जिनेश्वर मानता हुआ, श्रावस्ती में आया। विचरते हुए भगवान भी श्रावस्ती पधारे थे। भगवान के शिष्य आनन्द नाम के स्थविर मुनि, श्रावस्ती नगर में गये थे। वहाँ उन्होंने यह सुना कि गौशालक सर्वज्ञ है। वे, भगवान के पास आकर भगवान से पूछने लगे—हे प्रभो, क्या गौशालक, सर्वज्ञ है? भगवान ने गौशालक का समस्त पूर्व-वृत्तान्त प्रकट कर दिया। भगवान द्वारा प्रकट किया हुआ गौशालक का पूर्व-वृत्तान्त, श्रावस्ती नगरी में फैल गया, जिससे गौशालक बहुत क्रुद्ध हुआ और जब आनन्द मुनि, गोशालक के निवासस्थान के पास से निकले, तब गौशालक ने उनसे कहा, कि—तेरा धर्माचार्य, सभा के मध्य मेरी निन्दा करता है, परन्तु वह मेरी शक्ति को नहीं जानता! मैं, तेरे

धर्माचार्य को उसके शिष्यों सहित जला कर भस्म कर दूँगा! आनन्द मुनि ने, लौटकर गौशालक की कही हुई बात भगवान से कही और भगवान से प्रश्न किया, कि—हे प्रभो, क्या गोशालक आपको जलाने में समर्थ है? भगवान ने उत्तर दिया, कि—सर्वज्ञ तीर्थङ्कर पर गौशालक की शक्ति नहीं चल सकती. हाँ वह संताप अवश्य दे सकता है। इतने ही में, गौशालक, भगवान के पास आया और भगवान को यद्वा-तद्वा बोलने लगा। भगवान के शिष्य, सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनि को गौशालक की बात बुरी लगी, इससे उन्होंने गोशालक से कहा कि—रे गौशालक, जिन गुरु की कृपा से तू जीवित रह सका है, उन्हीं गुरु को इस प्रकार बोलता है! सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनि का कथन सुन कर गोशालक का क्रोध बढ़ गया। उसने, इन दोनों मुनि पर तेजोलेश्या छोड़ी, जिससे दोनों मुनि, मृत्यु को प्राप्त हुए और देव गति में उत्पन्न हुए। पश्चात् जब भगवान ने, गोशालक को शिक्षा रूप कुछ कहा, तब गोशालक ने भगवान पर भी तेजोलेश्या का प्रयोग किया; लेकिन भगवान पर तेजोलेश्या अपना भस्म करने का प्रभाव न दिखा सकी। वह, भगवान की प्रदक्षिणा करके वापस लौट गई और उसे छोड़नेवाले गोशालक में ही प्रवेश कर गई; जिससे गौशालक को पीड़ा हुई और वह, सातवें दिन मर गया। गौशालक की छोड़ी हुई तेजोलेश्या की हवा

लगने से, भगवान के शरीर में भी छः मास तक रक्तस्राव की पीड़ा रही, जो रेवती के यहाँ के बिजोरापाक से शमन हुई।

जमाली-जो भगवान के भानजे और जामाता थे--ने भी, संसार से विरक्त होकर भगवान के पास दीक्षा ली थी। लेकिन जब वे बीमार हुए, तब उनकी श्रद्धा पलट गई। अन्त में वे, भगवान के वचन के प्रतिकूल हो गये और काल करके किलविषी में उत्पन्न हुए।

भगवान श्री महावीर, साढ़े छः मास कम तीस वर्ष तक केवली पर्याय में रहे। भगवान के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। चौदह सहस्र मुनि थे। चन्दनबाला आदि छत्तीस सहस्र आर्यिका थीं। शंख आदि एकलाख उन्साठहजार श्रावक थे और तीनलाख अठारहहजार श्राविका थीं। भगवान के मुनियों में से तीनसौ मुनि पूर्वधारी थे। चारसौ चर्चावादी थे। पाँचसौ मनःपर्ययज्ञानी थे। सातसौ केवलज्ञानी थे। सातसौ वैक्रिय लब्धि के धारक थे। आठसौ, अनुत्तरविमान में बैठने के अधिकारी थे और तेरहसौ, अवधिज्ञानी थे। आर्यिकाओं में से चौदहसौ आर्यिका, केवलज्ञानी हुईं।

चतुर्थकाल के तीनवर्ष साढ़ेआठमास शेष रहे तब, कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात को, स्वाती नक्षत्र आने पर, छः भक्त के अनशन में, भगवान महावीर, सोलह पहर तक

निरन्तर उपदेश देते हुए अयोगी अवस्था को प्राप्त हो, सब कर्मों को क्षय करके निर्वाण पधारे। इन्द्र, देवताओं और मनुष्यों ने, अश्रुपूर्ण नेत्र से, भगवान के त्यागे हुए शरीर का अन्तिम संस्कार किया।

जिस रात में भगवान महावीर सिद्ध गति को प्राप्त हुए, उसी रात में इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। नव गणधर, भगवान के मोक्ष पधारने के पहले ही मोक्ष पधार चुके थे, इसलिए भगवान के पट्ट पर, सौधर्म स्वामी नाम के गणधर को नियुक्त किया गया। सुधर्मा स्वामी की परम्परा, आज भी विद्यमान है, जो पंचमकाल के अन्त तक रहेगी।

भगवान महावीर, अट्ठाइस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे। दो वर्ष तक, भाव-यतिपने में रहे। बारहवर्ष साढ़ेछः मास छद्मस्थ-अवस्था में और कुछ कम तीसवर्ष केवली पर्याय में रहे। इस प्रकार सब बहत्तर वर्ष का आयुष्य भोगकर भगवान महावीर, भगवान श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण को ढाईसौ वर्ष बीत जानेपर निर्वाण पधारे।

—o—
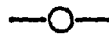
प्रश्न :—

१—भगवान महावीर के सर्व प्रथम-भव का संक्षिप्त इतिहास क्या है ?

२—भगवान श्री महावीर ने मरीचि के भव में किस कारण नीच गोत्र का उपार्जन और महामोहनीय कर्म का बंध किया था ?

३—भगवान महावीर के कितने प्रधान पूर्व भव का वृत्तान्त जानते हो ? संक्षिप्त में बताओ ?

४—भगवान के त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में कौन-से कार्य ऐसे हुए थे, कि जिनके कारण वे प्रसिद्ध हुए। इसी प्रकार, किन कार्यों द्वारा त्रिपृष्ठ वासुदेव ने महानिकाचित आसातावेदनीय कर्म उपार्जन किया ?

५—भगवान महावीर ने, पूर्व के किस भव में तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन किया था ?

६—देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में भगवान का जीव किस स्थान से, कितना आयुष्य भोगकर आया था और फिर त्रिशिला देवी के गर्भ में किस कारण और कैसे गया ?

७—भगवान का नाम वर्द्धमान किस कारण रखा गया था ?

८—किस घटना से प्रभावित होकर भगवान ने माता-पिता को अपने वियोग का दुःख न देने का प्रण किया था ?

९—भगवान महावीर के भाई, भगवान की पत्नी, बहन तथा पुत्री, भगवान के माता-पिता और जामाता का नाम क्या था ?

१०—भगवान के शरीर का परिमाण और वर्ण क्या था ?

११—भगवान ने, किस अवस्था में दीक्षा ली और उससे पहले दीक्षा क्यों नहीं ली ?

१२—भगवान की जन्मतिथि, दीक्षातिथि, केवलज्ञानतिथि और निर्वाणतिथि बताओ।

१३—भगवान को बड़े उपसर्ग किस-किस के द्वारा किस-किस रूप में सहने पड़े थे ?

१४—छद्मस्थपने में भगवान के चातुर्मास कहाँ-कहाँ हुए और कितने-कितने ?

१५—भगवान ने सब कितना तप किया था और विशेषतः किस रूप में ? किसी तप के साथ कोई कठिन अभिग्रह भी था ? यदि था तो कैसा और वह किसके द्वारा किस प्रकार पूरा हुआ ?

१६—संगमदेव ने, भगवान को क्यों और किस रूप में उपसर्ग दिये थे, तथा उभयपक्ष के लिए क्या परिणाम हुआ ?

१७—भगवान महावीर और गोशालक के बीच कौन-कौन-सी घटना घटी थी और परिणाम क्या निकला ?

१८—चण्डकौशिक सर्प और भगवान के बीच में क्या घटना घटी थी ?

१९—भगवान, अनार्य देश में क्यों पधारे थे और वहाँ क्या-क्या कष्ट भोगने पड़े ?

२०—भगवान ने गोशालक का क्या उपकार किया था ?

२१—भगवान के सर्व प्रथम शिष्य का नाम क्या था? किस घटना के वश वे भगवान के शिष्य हुए थे?

२२—भगवान महावीर के तीर्थ की भिन्न-भिन्न संख्या क्या थी?

२३—जामाली के विषय में क्या जानते हो?

२४—भगवान महावीर और भगवान अरिष्टनेमि के निर्वाण में कितने काल का अन्तर रहा?

उपसंहार ।

संसार में, तीर्थङ्कर-भगवान उत्कृष्ट पुरुष माने जाते हैं। वे जगत-जीवों के उपकारी होने के कारण इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र एवं नरेन्द्र भी उनके चरणों में शिर झुकाते और अपने को कृत्य-कृत्य मानते हैं। अन्य धर्मों में अवतारो के विषय में जैसा असंगत वर्णन है वैसा असंगत वर्णन जैनधर्म में नहीं है। जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष को महत्व नहीं देता वह कर्म प्रधान सिद्धान्त का समर्थक है। ऊपर के चरितानुवाद से भलीभांति प्रकट है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी सद्‌गुणों का सेवन करने में उन्नति की चर्मसीमा तक पहुँच सकता है। और संसार में महापुरुष माने जाने पर भी सद्‌गुणों का त्याग करने एवं मोहमाया में लिप्त रहने से दुर्गति का अधिकारी बन जाता है। तीर्थङ्कर भगवान भी हमारे जैसे मनुष्य ही होते हैं; अन्तर केवल गुणों का है। प्रत्येक आत्मा को अपनी उन्नति करने और तीर्थङ्कर बनने का अधिकार है। तीर्थङ्करनामकर्म उपार्जन करने के लिए सम्यत्क्त्वपूर्वक बीस बोलों का आराधन आवश्यक है जो शास्त्रकार ने इस प्रकार बताये हैं।

अरिहन्तासिद्ध पवयण, गुरूथेरवहूसूए तवस्सीसु ।
वच्छलयाअतोसिं, अभिरक नाणो व ओगेअ ॥१॥
दंसणाविणय आवस्सए, शिलवए निरइयारे ।
खणलव तवचियाए, वियायचे समाहिए ॥२॥
अपुव्वनाणे गहणे, सुयभत्तिपवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरं तं लहइजीवो ॥३॥

अर्थात्—१ अरिहन्त—२ सिद्ध भगवन्त के गुणानुवाद करना—३ प्रवचन की आराधना करना—४ शास्त्रोक्त गुणधारी गुरु महाराज—५ स्थविर—६ वहुश्रुति—७ तपस्वी इनके भी गुणा नुवाद करना ८ प्राप्त ज्ञान का वार वार चिन्तन-मनन करना—९ श्रद्धा (सम्यक्त्व) की शुद्धि करना—१० गुरुजन का विनय करना ११ कालोकाल आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना—१२ सदाचार (अहितव्रतादि निरति चार पालन) का सेवन करना—१३ शुभ और शुद्ध ध्नान ध्याना—१४ वारह प्रकार का तप करना—१५ अभयसुपात्रादि दान देना—१६ गुरुजन एवं आश्रितों की सेवा (वैयावच) करना—१७ चारों तीर्थ का वात्सल्य करना—१८ नया-नया अपूर्वीय ज्ञान सम्पादन करना १९ सूत्र सिद्धान्तों का बहुमान करना—२० उपदेश व कार्योद्वारा जैनधर्म को दिपाना ।—उपरोक्त बोलों का उत्कृष्ट भाव से सेवन करने वाला व्यक्ति ही तीर्थङ्कर होता है ।

तात्पर्य यह है कि, जैनधर्म, कर्म को प्रधानता देता है, व्यक्ति विशेष को नहीं। जो जैसा करता है वैसा ही बन जाता है। इस चरित्र से हमें यह शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये कि, हम भी दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को त्याग, सद्गुणों को अपनावें; जिससे हम भी अपनी आत्मा को पूजक से पूज्य बनालें।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि जैनधर्म कर्म प्रधान है, तब हमें तीर्थङ्करों का चरित्र पढ़ना और उनका भजन स्मरण क्यों करना चाहिये? इससे क्या लाभ है? इसका समाधान यह है कि—

१. तीर्थङ्कर भगवान का चरित्र हमारे लिए मार्ग-दर्शक है, इसके सहारे, हम भी अपनी आत्मा को उस दशा के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

२. तीर्थङ्करों का जन्म जगत् के कल्याणार्थ होता है। वे, जगत्-वासी जीवों को वस्तुस्थिति का सच्चा ज्ञान करा देते हैं, जिससे संसार के जीव स्व पर कल्याण करने में समर्थ हो जाते हैं।

३. तीर्थङ्करों के पांचों कल्याण एवं जीवन की एक-एक घटना, महत्ताओं से भरी हुई और बोधप्रद हैं, जो वाचक ऊपर अवलोकन कर ही चुके हैं।

४. उन महा पुरुषों के पवित्र नाम एवं प्रार्थना में वह शक्ति है कि जो भव्य जनों के पापों का नाश कर देती है, जिसके लिये श्रीमान्तुङ्गाचार्य्य कृत भक्तामर की ये पंक्तियें पर्याप्त होगीं:—

त्वत् संस्तवेनभवसंततिसन्निवद्धं,

पापंक्षणात्क्षय मुपैतिशरीरभाजाम् ॥

अथवा

त्वत्संकथापिजगतांदुरितानिहन्ति,

अर्थात्—हे नाथ ! आपकी स्तुति (प्रार्थना) करने से संसारियों के अनेक भवों की संतति रूप वन्धे हुए पाप, क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं, तथा आप की कथा मात्र ही जगत जीवों के पापों को नष्ट कर देती है । इत्यादि ।

उपरोक्त प्रमाणों से जगद्वंद्य तीर्थङ्कर परमात्मा का चरित्र भव्य प्राणियों का कल्याणकर्त्ता है ।

सुचिन्नाकम्मा सुचिन्नाफलाभवन्ति ॥

---

१२ फार्म दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिङ्ग प्रेस में छपे और शेष तीन फार्म और टाईटिल दी आदर्श प्रिंटिङ्ग प्रेस में छपे।